# उर्दू के बेहतरीन संस्मरण

•

उपेन्द्रनाथ अश्क

•

नीलाभ प्रकाशन

# उर्दू के बेहतरीन संस्मरण

सम्पादक

उपेन्द्रनाथ अश्क

**नीलाभ प्रकाशन**

५, खुसरो बाग़ रोड, इलाहाबाद-१

● प्रथम संस्करण : १६६२

● मूल्य : ३.००

● प्रकाशक : **नीलाभ प्रकाशन**

५, खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद-१

● मुद्रक : **भार्गव प्रेस**

१ बाई का बाग़, इलाहाबाद-३

## अनुक्रम

# उर्दू के बेहतरीन संस्मरण

उर्दू में संस्मरण साहित्य की बड़ी सबल और स्वस्थ परम्परा है। उर्दू का संस्मरण लेखक जब किसी पर संस्मरण लिखता है तो उसके गुण ही गुण नहीं दिखाता, उसके दोष भी खुले ढंग से दिखाता हैं। उसे देवता नहीं, इन्सान के रूप ही में पेश करता है।

**उर्दू के बेहतरीन संस्मरण**—में उर्दू के प्रसिद्ध साहित्य साहित्यकारों ने बड़े ही खुले, लेकिन सहानुभूति पूर्ण ढंग से अपने से बड़े अथवा बराबर वालों पर संस्मरण लिखे हैं। कवि दिनकर के शब्दों में 'ये **संस्मरण बड़े जोरदार हैं और हिन्दी के संस्मरण साहित्य को इनसे निश्चय ही बल मिलेगा।**

## इस्मत चग़ताई

●●●

# दोज़ख़ी

जब तक कॉलेज सर पर सवार रहा, पढ़ने-लिखने से फ़ुर्सत ही न मिली जो साहित्य की ओर ध्यान दिया जाता। और कॉलेज से निकल कर बस दिल में यही बात बैठ गयी कि हर वह चीज़ जो दो साल पहले लिखी गयी, पुरानी, बे-रस और झूठी है और नया साहित्य सिर्फ़ आज और कल में मिलेगा। इस नये साहित्य ने इस क़दर गड़बड़ाया कि न जाने कितनी किताबें सिर्फ़ नाम देख कर ही वाहियात समझ कर फेंक दीं और सबसे ज़्यादा बेकार किताबें जो नज़र आयीं, वो अज़ीमबेग चग़ताई की। 'घर की मुर्ग़ी दाल बराबर' वाली बात! घर के हर कोने में उनकी किताबें मारी-मारी फिरतीं। मगर सिवाय अम्माँ और दो-एक पुराने फ़ैशन की भाभियों के किसी ने उठा कर भी न देखीं। यही ख़याल होता, भला इनमें होगा ही क्या। यह साहित्य नहीं, फूहड़ मज़ाक़, पुराने इश्क़ के सड़ियल क़िस्से और जी जलाने वाली बातें होंगी। यानी बे-पढ़े राय क़ायम! मुझे ख़ुद यह बात समझ में नहीं आयी कि मैंने अज़ीम भाई की किताबें क्यों न पढ़ीं?

शायद इसमें थोड़ा-सा घमण्ड भी शामिल था और अहं भी ! यह ख़याल होता था, ये पुराने हैं, हम नये !

एक दिन योंही लेटे-लेटे उनका एक मज़मून 'इक्का' नज़र आया। मैं और असीम भाई पढ़ने लगे। न जाने किस धुन में थे कि हँसी आने लगी और इस क़दर आयी कि पढ़ना कठिन हो गया। हम पढ़ ही रहे थे कि अज़ीम भाई आ गये और अपनी किताब पढ़ते देख कर खिल उठे। मगर हम जैसे चिढ़ गये और मुँह बनाने लगे। वो एक ही होशियार थे। बोले, "लाओ, मैं तुम्हें सुनाऊँ।" और यह कह कर दो-एक मज़मून जो हमें सुनाये तो सही मानी में हम ज़मीन पर लोटने लगे। सारी बनावट ग़ायब हो गयी। एक तो उनके मज़मून और फिर उनकी ही ज़बानी। लगता था कि हँसी की चिनगारियाँ उड़ रही हैं। जब वो ख़ूब अहमक़ बना चुके तो बोले, "तुम लोग तो कहते हो, मेरे मज़मूनों में कुछ नहीं होता।" और उन्होंने छेड़ा। हमारे मुँह उतर कर ज़रा-ज़रा से निकल आये और हम बेतरह चिढ़ गये। झुँझला कर उलटी-सीधी बातें करने लगे। जी जल गया, और फिर इसके बाद उनकी किताबों से और भी नफ़रत हो गयी।

मैंने उनकी रचनाओं की उनकी ज़िन्दगी में कभी प्रशंसा न की, हालाँकि वो मेरे मज़मून देख कर ऐसे ख़ुश होते थे कि बयान नहीं। इस क़दर प्यार से तारीफ़ करते थे। मगर यहाँ तो उनकी हर बात से चिढ़ने की आदत थी। मैं समझती थी कि वो मेरा मज़ाक़ उड़ाते हैं। और बख़ुदा जब वह शख़्स किसी का मज़ाक़ उड़ाता था तो जी चाहता था, बच्चों की तरह मचल जायें और रोयें। किस क़दर व्यंग्य, कैसी कड़ुवी मुस्कराहट और काटते हुए वाक्य। मैं तो हर वक़्त डरती थी कि मेरा मज़ाक़ उड़ाया और मैंने बदज़बानी की।

कभी कहते थे, "मुझे डर लगता है कि कहीं तुम मुझसे अच्छा न लिखने लगो।" और मैंने सिर्फ़ चन्द मज़मून लिखे थे, इसलिए जी जलता था कि ये मेरा मज़ाक़ उड़ा रहे हैं।

उनके देहान्त के बाद न जाने क्यों, मरने वाले की चीज़ें प्यारी हो गयीं। उनका एक-एक लफ़्ज़ चुभने लगा। और मैंने उम्र में पहली बार उनकी किताबें दिल लगा कर पढ़ीं। दिल लगा कर पढ़ने की भी ख़ूब रही। गोया दिल लगाने की भी ज़रूरत थी। दिल आप-से-आप खिंचने लगा। ओफ़्फ़ोह! तो यह कुछ लिखा है इन मारी-मारी फिरने वाली किताबों में! एक-एक शब्द पर उनकी तस्वीर आँखों में खिंच जाती और पल भर में वो ग़म और दुख में डूबी हुई, मुस्कराने की कोशिश करती हुई आँखें, दुख-भरी काली घटाओं की तरह मुरझाये हुए चेहरे पर पड़े हुए वो घने बाल, वो पीला नीलाहट लिये हुए ऊँचा माथा, उदास ऊदे होंठ, जिनके अन्दर समय से पहले तोड़े हुए असमतल दाँत और दुर्बल, सूखे-सूखे, औरतों-जैसे नाज़ुक, और दवाओं में बसी हुई लम्बी उँगलियों वाले हाथ। और फिर उन हाथों पर सूजन आ गयी थी। पतली-पतली खपच्ची-जैसी टाँगें, जिनके सिरे पर वरम से सूजे हुए भद्दे पैर, जिन्हें देखने से बचने के लिए हम लोग उनके सिरहाने की तरफ़ ही जाया करते थे और सूखे हुए पिंजर-जैसे सीने पर धौंकनी का सन्देह होता था। कलेजे पर हज़ारों कपड़ों, बनियानों की तहें और इस सीने में ऐसा फड़कता हुआ चुलबुला दिल! या अल्लाह, यह आदमी क्योंकर हँसता था। लगता था, कोई भूत है या जिन्न, जो हर ख़ुदाई ताक़त से कुश्ती लड़ रहा है। नहीं मानता, मुस्कराये जाता है। ज़ालिम और जाबिर ख़ुदा चढ़-चढ़ कर खाँसी और दमे की यन्त्रणा दे रहा है और यह दिल ठहाके लगाना नहीं छोड़ता। कौन सा दुनिया और दीन का दुख था, जो क़ुदरत ने बचा रखा था, फिर भी रुला न सकी। इस दुख में, जलन में हँसते ही नहीं, हँसाते रहना किसी इन्सान का काम नहीं। मामूँ कहते थे, 'ज़िन्दा लाश।' ख़ुदाया! अगर लाशें भी इस क़दर जानदार, बेचैन और फड़कने वाली होती हैं तो फिर दुनिया एक लाश क्यों नहीं बन जाती!

मैं एक बहन की हैसियत से नहीं, औरत के रूप में उनकी तरफ़ नज़र उठा कर देखती तो दिल काँप उठता था। किस क़दर ढीठ था उनका दिल!

उसमें कितनी जान थी ! मुँह पर गोश्त नाम को न था। मगर कुछ दिन पहले चेहरे पर वर्म आ जाने से चेहरा ख़ूबसूरत हो गया था। कनपटियाँ भर गयी थीं। पिचके हुए गाल उभर आये थे। एक मौत की-सी चमक चेहरे पर आ गयी थी। और रंगत में भी कुछ अजब तिलिस्मी सब्ज़ी-सी आ गयी थी, जैसे मसाला लगी हुई ममी ! मगर आँखें—लगता था किसी बच्चे की नटखट आँखें—जो ज़रा-ज़रा-सी बात पर नाच उठती थीं और फिर कभी उनमें नौजवानों की-सी शोख़ी जाग उठती थी। और यही आँखें कभी खाँसी के दौरे की शिद्दत से घबरा कर चीख़ उठतीं। उनकी साफ़, स्वच्छ, नीली सतह पीली गँदली हो जाती और अशक्त हाथ काँपने लगते। सीना फटने पर आ जाता। दौरा ख़त्म हुआ कि फिर वही रोशनी, फिर वही नाच, फिर वही चमक !

अभी चन्द दिन हुए, मैंने पहली बार 'ख़ानम'[1] पढ़ी। हीरो वे ख़ुद नहीं। उनमें इतनी जान ही कब थी। मगर वह हीरो उनकी कल्पना का नायक है। वह उनकी दबी हुई भावनाओं की काल्पनिक तस्वीर है। जैसे एक लँगड़ा सपनों में स्वयं को नाचता, कूदता, दौड़ता हुआ देखता है। ऐसे ही वो बीमारी में गिरफ़्तार निढाल पड़े अपने हमज़ाद (प्रतिच्छाया) को शरारतें करते देखते थे। काश, एक बार और सिर्फ़ एक बार उनकी 'ख़ानम' उस हीरो को देख लेती।

शायद औरों के लिए 'ख़ानम' कुछ भी नहीं। लेकिन सिवाय लिखने वाले के शेष सारे पात्र यथार्थ और जीवित हैं। भाई साहब, भाई जान, नानी अम्माँ, शेख़ानी, वालिद साहब, भतीजे, भंगी, भिश्ती—ये सब-के-सब हैं और रहेंगे। यही होता था, बिलकुल यही और अब भी सब घरों में ऐसा ही होता है। कम-से-कम मेरे घर में तो था और एक-एक शब्द घर की सच्ची तस्वीर है। जब अज़ीम बेग लिखते थे तो सारा घर और हम सब

---

१. यह पुस्तक हिन्दी में 'श्रीमती जी' के नाम से छपी है।

उनके लिए ऐक्टिंग किया करते थे। हम हिलते-जुलते खिलौने थे और वो एक नक़्क़ाश, जिसने बिलकुल असल की नक़ल कर दी। जितनी बार 'ख़ानम' को पढ़ती हूँ, यही लगता है, ख़ानदान का ग्रुप देखती हूँ—वो भाभी जान और ख़ानम झगड़ रही हैं। वो भाई साहब शरारतें ईजाद कर रहे हैं और लेखक ख़ुद? सर झुकाये ख़ामोश तस्वीर खींचने में निमग्न है।

'खुरपा बहादुर,' जिसका पहला टुकड़ा 'रूहे-लताफ़त' में छपा है, यह सब काल्पनिक है। लाचार-मजबूर इन्सान अपने हमज़ाद से दुनिया-जहान की शरारतें करवा लेता है। वह ख़ुद तो दो क़दम नहीं चल सकता, लेकिन हमज़ाद चोरियाँ करता है, शरारतें करता है। ख़ुद तो एक उँगली का बोझ नहीं सहार सकता, पर हमज़ाद जी भर कर मार खाता है और टस से मस नहीं होता। लेखक को अरमान था कि काश वो भी इतना मज़बूत होता, दूसरे भाइयों की तरह! डेढ़-डेढ़ सौ जूते खा कर कमर झाड़ कर उठ खड़ा होता। तन्दुरुस्त लोग क्या जानें एक बीमार के दिल में क्या-क्या अरमान होते हैं। परकटा पन्छी वैसे नहीं, पर सपनों में तो दुनिया भर की सैर कर आता है। यही हाल उनका था। वो जो कुछ न थे, कहानियों में वही बन कर मन की आग बुझा लेते थे। कुछ तो चाहिए न जीने के लिए!

शुरू से ही रोते-धोते पैदा हुए। रुई के गालों पर रख कर पाले गये। कमज़ोर देख कर हर एक माफ़ कर देता। लम्बे-तगड़े भाई सर झुका कर पिट लेते। कुछ भी करें वालिद साहब कमज़ोर जान कर माफ़ कर देते। हर एक दिल बहलाने में लगा रहता। मगर बीमार को बीमार कहो तो उसे ख़ुशी कब होगी। इन मेहरबानियों से हीन भाव और बढ़ता। विद्रोह और बढ़ता, ग़ुस्सा और बढ़ता। मगर बेबस। सब ने उनके साथ गांधी जी वाली अहिंसा शुरू कर दी थी। वो चाहते थे, कोई तो उन्हें भी इन्सान समझे, उन्हें भी कोई डाँटे, उन्हें भी कोई ज़िन्दा लोगों में गिने। इसलिए एक तरकीब निकाली और वह यह कि फ़सादी बन गये। जहाँ चाहा, दो आदमियों को लड़ा दिया। अल्लाह ने दिमाग़ दिया था और फिर उसके साथ-

साथ बला की कल्पना-शक्ति और तेज़ ज़बान। चटख़ारे ले-ले कर कुछ ऐसी तरकीबें चलते कि झगड़ा ज़रूर होता। बहन-भाई, माँ-बाप, सब को नफ़रत हो गयी। अच्छा-ख़ासा घर मैदाने-जंग बन गया। और सब मुसीबतों के ज़िम्मेदार ख़ुद। बस उनका अहं संतुष्ट हो गया और कमज़ोर, लाचार, हरदम का रोगी थियेटर का खलनायक हीरो बन गया, और क्या चाहिए। सारी कमज़ोरियाँ हथियार बन गयीं। ज़बान बद से बदतर हो गयी। दुनिया में हर कोई नफ़रत करने लगा। सूरत से जी मतलाने लगा। हँसते-बोलते लोगों को दम भर में दुश्मन बना लेना बायें हाथ का काम हो गया।

लेकिन उद्देश्य यह तो न था कि सचमुच दुनिया उन्हें छोड़ दे। घर वालों ने जितना उनसे खिंचना शुरू किया, उतना ही वो लिपटे। आख़िर में तो ख़ुदा माफ़ करे, उनकी सूरत देख कर नफ़रत होती थी। वो लाख कहते, मगर दुश्मन नज़र आते थे। बीवी शौहर न समझती, बच्चे बाप न समझते, बहन ने कह दिया, तुम मेरे भाई नहीं और भाई आवाज़ सुन कर नफ़रत से मुँह मोड़ लेते। माँ कहती—'साँप जना था मैंने!'

मरने से पहले दयनीय हालत थी। बहन हो कर नहीं, इन्सान बन कर कहती हूँ, जी चाहता था, जल्दी से मर चुकें! आँखों में दम है, पर दिल दुखाने, नहीं चूकते। दोज़ख़ का अज़ाब बन गये हैं। हज़ारों कहानियों, अफ़सानों का हीरो एक विलेन बन कर संतुष्ट हो चुका था। वो चाहता था कि अब भी कोई उसे प्यार करे, बीवी पूजा करे, बच्चे मुहब्बत से देखें, बहनें वारी जायें और माँ कलेजे से लगाये।

माँ ने सचमुच फिर कलेजे से लगा लिया। भूला-भटका रास्ते पर आ लगा। आख़िर को माँ थी। पर औरों के दिल से नफ़रत न गयी। यहाँ तक कि फेफड़े ख़त्म हो गये, वर्म बढ़ गया, आँखें चुँधिया गयीं और अन्धों की तरह टटोलने पर भी रास्ता न मिला। हीरो बन कर भी हार उनकी ही रही। जो चाहा, न मिला। उसके बदले नफ़रत, हिक़ारत, कराहत मिली। इन्सान कितना लोभी होता है। इतनी शोहरत और नाम होने के बावजूद बेइज़्ज़ती की ठोकरें खा कर जान दी। सुबह चार बजे, आज से ४२ बरस

पहले जो नन्हा-सा कमज़ोर बच्चा पैदा हुआ था, वह ज़िन्दगी का नाटक खेल चुका था। २० अगस्त को सुबह छै बजे शमीम ने आ कर कहा, "मुन्ने भाई ख़त्म हो रहे हैं। उठो!"

"वो कभी ख़त्म न होंगे! ...बेकार मुझे जगा रहे हो।" मैंने बिगड़ कर सुबह की ठंडी हवा में फिर सो जाने का इरादा किया।

"अरे कमबख़्त, तुझे याद कर रहे हैं।" शमीम ने कुछ परेशान हो कर हिलाया।

"उनसे कह दो अब क़ियामत के दिन मिलेंगे।...अरे शमीम वो कभी नहीं मर सकते।" मैंने विश्वास से कहा।

मगर जब नीचे आयी तो उनकी ज़बान बन्द हो चुकी थी। कमरा सामान से ख़ाली कर दिया गया था। सारा कूड़ा-कर्कट, किताबें हटा दी गयी थीं। दवा की बोतलें लाचारी की तस्वीर बनी लुढ़क रही थीं। दो नन्हें बच्चे परेशान हो-हो कर दरवाज़े को तक रहे थे। भाभी उन्हें ज़बरदस्ती चाय पिला रही थीं। आँसू बन्द थे।

"मुन्ने भाई!" मैंने उन पर झुक कर कहा। एक क्षण को आँखें अपनी धुरी पर रुकीं, होंठ सिकुड़े और फिर वही दम टूटने की हालत हो गयी। हम सब बाहर बैठ कर चार घंटे तक सूखे-बेजान हाथों की जंग देखते रहे। मालूम होता था मौत का फ़रिश्ता भी पस्त हो रहा है। जंग थी कि ख़त्म ही न होती थी।

"ख़त्म हो गये मुन्ने भाई।" न जाने किसने कहा।

'वो कभी ख़त्म नहीं हो सकते।'—मुझे ख़याल आया।

और आज मैं उनकी किताबें देख कर कहती हूँ, 'असम्भव! वो कभी नहीं मर सकते। उनकी जंग अब भी जारी है। मरने से क्या होता है। मेरे लिए तो वो मर कर ही जिये और न जाने कितनों के लिए वो मरने के बाद पैदा होंगे और बराबर पैदा होते रहेंगे। उनका सन्देश—"दुख से लड़ो, नफ़रत से लड़ो और मर कर भी लड़ते रहो!" यह कभी न मर सकेगा।

उनकी विद्रोही आत्मा को कोई नहीं मार सकता। वो नेक नहीं थे। पारसा न होते अगर उनकी सेहत अच्छी होती। वो झूठे थे, उनकी ज़िन्दगी झूठी थी। सब से बड़ा झूठ थी। उनका रोना झूठा, हँसना झूठा। लोग कहते हैं, माँ-बाप को दुख दिया, बीवी को दुख दिया, बच्चों को दुख दिया और सारे जग को दुख दिया। वो एक देव थे, जो दुनिया के लिए अभिशाप बन कर आये थे और अब दोज़ख़ ( नरक ) के सिवा उनका कहीं ठिकाना नहीं। अगर दोज़ख़ में ऐसे ही लोगों का ठिकाना है तो एक बार तो ज़रूर उस दोज़ख़ में जाना पड़ेगा। सिर्फ़ यह देखने कि जिस व्यक्ति ने दुनिया के नरक में यों हँस-हँस कर तीर खाये और तीरन्दाज़ों को कड़ुए तेल में तला, वह नरक में यमराज को क्या कुछ न चिढ़ा-चिढ़ा कर हँस रहा होगा। बस मैं वह तीखी व्यंग्य से भरी हँसी देखना चाहती हूँ जिसे देख कर यमराज भी जल उठता होगा।

मुझे विश्वास है, वो अब भी हँस रहा होगा। कीड़े उसकी खाल को खा रहे होंगे, हड्डियाँ मिट्टी में मिल रही होंगी, मुल्लाओं के फ़तवों से उसकी गर्दन दब रही होगी, आरों से उसका जिस्म चीरा जा रहा होगा, मगर वह हँस रहा होगा। आँखें शरारत से नाच रही होंगी। नीले मुर्दा होंठ तल्ख़ी से हिल रहे होंगे, पर कोई उसे रुला नहीं सकता।

वह आदमी, जिसके फेफड़ों में नासूर, टाँगें अर्से से अकड़ी हुई, बाँहें इंजेक्शनों से गुदी हुई, कूल्हे में अमरूद के बराबर फोड़ा, आख़िरी दम, और चींटियाँ जिस्म में लगना शुरू हो गयीं, क्या हँस कर कहता है—"ये चींटी साहबा भी किस क़दर बेसब्र हैं।" यानी वक़्त से पहले अपना हिस्सा लेने आ पहुँचीं। यह मरने से दो दिन पहले कहा। दिल चाहिए। पत्थर का कलेजा हो, मरते वक़्त जुमले कसने के लिए।

उनका एक जुमला हो तो लिखा जाय। एक लफ़्ज़ हो जो याद आये। पूरी-की-पूरी किताबें ऐसे-ऐसे चुटकुलों से भरी पड़ी हैं। दिमाग़ था कि इंजन! बिना आग-पानी के हर वक़्त चलता रहता था, और ज़बान थी कि क़ैंची! इस क़दर नपे-तुले जुमले निकालती थी कि जम कर रह जाते थे।

नये लिखने वालों के आगे उनकी गाड़ी नहीं चली। दुनिया बदल गयी है, आचार-विचार बदल गये हैं। हम लोग बदज़बान हैं और मुँह-फट। हम, दिल दुखता है तो रो देते हैं। पूँजीवाद, समाजवाद और बेकारी ने हम लोगों को झुलसा दिया है। हम जो कुछ लिखते हैं, दाँत पीस-पीस कर लिखते हैं। अपने छिपे दुखों, कुचली भावनाओं को ज़हर बना कर उगलते हैं। वो भी दुखी थे। नादार, बीमार और मुफ़लिस थे। सरमायादारी से तंग। मगर फिर भी इतनी हिम्मत थी कि ज़िन्दगी का मुँह चिढ़ा देते थे। दुख में ठहाका लगा देते थे। वो कहानियों ही में नहीं हँसते थे। ज़िन्दगी के हर मामले में हँस कर दुख को नीचा कर देते थे।

बातों के इतने शौक़ीन कि दुनिया का कोई इन्सान हो, उससे दोस्ती। 'खुरपा बहादुर' में जो शाह लंकरान के हालात हैं वो एक मीरासिन से मालूम हुए। उससे ऐसी दोस्ती थी कि बस बैठे हैं और घंटों बकवास हो रही है। लोग हैरान हैं कि या अल्लाह ये, बुढ़िया मीरासिन से क्या बातें हो रही हैं? मगर जो कुछ उन्होंने लिखा, उसी बुढ़िया मीरासिन ने बताया है।

और तो और, भंगिन, भिश्तिन, राह-चलतों को रोक कर बातें करते थे। यहाँ तक कि कुछ दिन अस्पताल में रहे। वहाँ रात को जब ख़ामोशी हो जाती, आप चुपके से सारे मरीज़ों को समेट कर गप्पें उड़ाया करते। हज़ारों क़िस्से सुनते और सुनाते। वही क़िस्से—'सवाना की रूहें,' 'महारानी का ख़्वाब,' 'चमकी' और 'बरेड़े' बन गये। वो हर चीज़ ज़िन्दगी से लेते थे और ज़िन्दगी में कितने झूठ हैं, यही बात है उनकी कहानियों में। बहुत-सी बातें विश्वास से परे मालूम होती हैं, चूँकि उनकी कल्पना हर बात पर यक़ीन करती थी।

उनके नावेल कुछ जगह वाहियात हैं, फ़ुज़ूल से। ख़ास कर 'कोलतार' तो बिलकुल रद्दी है। मगर उसमें भी हक़ीक़त को असली सूरत में गड़बड़ करके लिख दिया है। 'शरीर बीवी' तो बिलकुल फ़ुज़ूल है। मगर अपने ज़माने की बड़ी चलती हुई चीज़ थी।

'चमकी' एक दहकता हुआ शोला है। विश्वास नहीं होता कि इस क़दर सूखा-मारा इन्सान, जिसने अपनी बीवी के अलावा किसी तरफ़ आँख उठा कर न देखा, कल्पना में कितना ऐयाश बन जाता है। ओफ़्फ़ोह! वह चमकी की ख़ामोश निगाहों के पैग़ाम, वह हीरो का उसकी हरकतों से मंत्र-मुग्ध हो जाना। और फिर लिखने वाले की ज़िन्दगी—किस क़दर मुकम्मल झूठ! यह अज़ीम भा नहीं, उनका हमज़ाद होता था, जो उनके जिस्म से दूर हो कर हुस्न-ो-इश्क़ की ऐयाशियाँ कराता था।

अज़ीम भाई यों भी मौजूदा अदब में यानी एकदम आधुनिक साहित्य में लोकप्रिय न थे कि वो खुली बातें न लिखते थे। वो औरत का हुस्न देखते थे, पर उसका शरीर बहुत कम देखते थे। शरीर की बनावट की दास्तानें पुरानी मसनवियों (पद्य कथाओं) गुल बकावली, ज़हरे-इश्क़ वग़ैरह में बहुत साफ़ थीं और फिर उन्हें पुरानी कह दिया गया था। लेकिन अब फिर यह फ़ैशन निकला है कि वही पुराना सीने का उतार-चढ़ाव, पिंडलियों की गावदुमी, रानों का भरापन नया अदब बन गया है। वो इसे अश्लीलता समझते थे और अश्लीलता से डरते थे। यद्यपि भावनाओं का नगापन उनके यहाँ आम है, और बहुत गन्दी बातें भी लिखने में नहीं झिझकते थे। वो औरत की भावनाएँ तो नग्न देखते थे पर ख़ुद उसे कपड़े पहना देते थे। वो ज़्यादा बेतकल्लुफ़ी से मुझसे बातें नहीं करते थे और बहुत बच्चा समझते थे। कभी किसी यौन-समस्या पर तो वो किसी से बहस करते ही न थे। एक दोस्त से सिर्फ़ इतना कहा—"नये अदीब बड़े जोशीले हैं, लेकिन भूखे हैं और ऊपर से उन पर जिन्सी असर (यौन प्रभाव) बहुत है। जो कुछ लिखते हैं, 'अम्माँ खाना!' मालूम होता है।" वो यह भी कहा करते कि हिन्दुस्तानी अदब में जिन्स बहुत नुमायाँ रहती है। यहाँ के लोगों पर यौन भावनाएँ सदा से हावी रही हैं। हमारे काव्य, चित्रकला, पुरानी पूजा—सभी से यौन भावना का पता चलता है। अगर ज़रा देर इश्क़-ो-मुहब्बत को भूल जायें तो लोकप्रिय नहीं रह सकते। यही कारण है कि बहुत जल्द अदब में उनका रंग ग़ायब हो कर वही 'अलिफ़ लैला' का रंग छा गया।

उन्हें हिजाब इम्तियाज़ अली[१] से ख़ास लगाव था। (मैं मोहतरिमा से माफ़ी माँग कर कहूँगी, कि मरने वाले का राज़ है) कहा करते थे, 'यह औरत बहुत प्यारे झूठ बोलती है।' उन्हें शिकायत थी कि मैं बहुत ही उलटे-सीधे झूठ बोलती हूँ। मेरे झूठ भूखे की पुकार हैं और उनके झूठ भूखे की मुस्कराहटें। अल्लाह जाने, उनका क्या मतलब होता था।

हम उनके अफ़सानों को आम तौर से 'झूठ' कहा करते थे। जहाँ उन्होंने कोई बात शुरू की और वालिद साहब मरहूम हँसे। "फिर 'क़स्से-सहरा' लिखने लगे।" वो उनकी गप्पों को क़स्से-सहरा कहते थे। अज़ीम भाई कहते, "सरकार! दुनिया में झूठ बग़ैर कोई रंगीनी नहीं। बात को दिलचस्प बनाना चाहो तो झूठ उसमें मिला दो।"

वो यह भी कहते थे कि जन्नत और दोज़ख़ का बयान भी तो 'क़स्से-सहरा' है।

इस पर मामूँ कहते, "अरे इस ज़िन्दा लाश को मना करो कि यह कुफ़्र है।" इस पर वो मामूँ के अंधविश्वासी सुसराल वालों का मज़ाक़ उड़ाते थे।

उन्हें पीरी-मुरीदी ढोंग मालूम होता था। लेकिन कहते थे, "दुनिया का हर ढोंग एक मज़ेदार झूठ है और झूठ ही मज़ेदार है।"

कहते थे, "मेरी सेहत इजाज़त देती तो मैं अपने बाप की क़ब्र पुजवा देता। बस दो साल क़व्वाली करा देता और चादर चढ़ाता। मज़े से आमदनी होती।"

उन्हें धोखेबाज़ और मक्कार आदमी से मिल कर बड़ी ख़ुशी होती थी। कहते थे, "धोखा और मक्कारी मज़ाक़ नहीं। अक़्ल चाहिए इन चीज़ों के लिए।"

उन्हें नाच-गाने से बड़ा शौक़ था। मगर किस नाच से? ये जो फ़क़ीर बच्चे आते हैं, उनके। आम तौर से पैसे दे कर धूल में नाचते हुए फ़क़ीरों को इस शौक़ से देखा करते थे कि उनकी तल्लीनता देख कर ईर्ष्या होती

---

१. उर्दू की एक लेखिका।

थी। न जाने उस नंगे-भूखे नाच में क्या कुछ नज़र आता था।

मैंने उन्हें कभी नमाज़ पढ़ते न देखा। क़ुरान शरीफ़ लेट कर पढ़ते थे और बे-अदबी से उसके साथ-साथ सो जाते थे। लोगों ने बुरा-भला कहा तो उस पर काग़ज़ चढ़ा कर कह दिया करते थे कि कुछ नहीं, क़ानूनी किताब है। झूठ तो ख़ूब निभाते थे।

हदीस[1] तो बहुत पढ़ते थे और लोगों से बहस करने के लिए अजीब-अजीब हदीसें ढूँढ कर याद कर लेते थे और सुना कर लड़ा करते थे। उन हदीसों से लोग बड़े आजिज़ थे। क़ुरान की आयतें भी याद थीं और बेतकान हवाला देते थे। शक करो तो सिरहाने से क़ुरान निकाल कर दिखा देते थे।

यज़ीद[2] के बड़े प्रशंसक थे और इमाम हुसैन की शान में बकवास किया करते थे। लोगों से घंटों बहस होती थी। कहते थे, "मैंने ख़्वाब में देखा कि हज़रत इमाम हुसैन खड़े हैं। उधर से यज़ीद लईन[3] आया। आपके पैर पकड़ लिये। गिड़गिड़ाया, हाथ जोड़े तो आपका ख़ून जोश मारने लगा और उसे उठा कर सीने से लगा लिया। बस मैंने भी उस दिन से यज़ीद की इज़्ज़त शुरू कर दी। जन्नत में तो उनका मिलाप भी हो गया, फिर हम क्यों लड़ें।"

राजनीति से कम दिलचस्पी थी। कहते थे, "बाबा हम लीडर नहीं बन सकते तो फिर क्या कहें। लोग कहेंगे, तुम ही कुछ करके दिखाओ। और यहाँ कमबख़्त खाँसी और दमा नहीं छोड़ता।" बहुत साल हुए, कुछ लेख 'रियासत' में राजनीति और अर्थशास्त्र पर लिखे थे। वो न जाने क्या हुए। मज़हब का जूनून-सा था। मगर आख़िर में आ कर बहस कम कर दी थी। कहते थे, "भई तुम लोग हट्टे-कट्टे हो और मैं मरने वाला हूँ। और

---

१. मुहम्मद साहब के कथन।

२. जिसने करबला में हज़रत हुसैन और उनके साथियों की बड़ी निर्दयता से हत्या की थी।

३. जिस पर लानत हो।

जो कहीं दोज़ख़ जन्नत सच निकल आयीं तो मैं क्या करूँगा। लिहाज़ा चुप ही रहो।"

पर्दे के ख़िलाफ़ तो कभी से थे, पर आख़िर में कहते थे, यह पुरानी बात हो गयी। अब पर्दा रोके से नहीं रुक सकता। इस मामले में हम हार चुके, अब तो नयी परेशानियाँ हैं।" लोग कहते थे, दोज़ख़ में जाओगे तो फ़रमाते, "यहाँ कौन सी अल्लाह मियाँ ने जन्नत दे दी जो वहाँ दोज़ख़ की धमकियाँ हैं। कुछ परवाह नहीं। हम तो आदी हैं। अल्लाह मियाँ अगर हमें दोज़ख़ में जलायेंगे तो उनकी लकड़ी और कोयला बेकार जायेगा। क्योंकि हम तो हर अज़ाब ( यन्त्रणा ) के आदी हैं।" कभी कहते, "अगर दोज़ख़ में रहे तो हमारे जर्म्ज़ ( कीटाणु ) तो मर जायेंगे। जन्नत में तो हम सारे मौलवियों को दिक़ में लपट लेंगे।"

यही वजह है कि सब उन्हें बाग़ी और 'दोज़ख़ी' कहते हैं। वो कहीं पर भी जायें, मैं देखना चाहती हूँ, क्या वहाँ भी उनकी वही क़ैंची-जैसी ज़बान चल रही है? क्या वहाँ भी वो हूरों से इश्क़ लड़ा रहे हैं या दोज़ख़ के फ़रिश्तों को जला कर मुस्करा रहे हैं? मौलवियों से उलझ रहे हैं या दोज़ख़ के भड़कते शोलों में उनकी खाँसी गूँज रही है? फेफड़े फूल रहे हैं और फ़रिश्ते उनके इंजेक्शन घोंप रहे हैं? फ़र्क़ ही क्या है, एक दोज़ख़ से दूसरे दोज़ख़ में। दोज़ख़ी का क्या ठिकाना!

## फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

●●●

# बुख़ारी साहब

..."दोस्ती तनदिही और मुस्तैदी का नाम है यारो, मुहब्बत तो योंही कहने की बात है। देखो तो, हर रोज़ मैं तुममें से हर पाजी को टेलीफ़ोन करता हूँ, हर एक के घर पहुँचता हूँ, अपने घर लाता हूँ, खिलाता हूँ, पिलाता हूँ, सैर कराता हूँ, हँसाता हूँ, शेर सुनाता हूँ, फिर रात गये बारी-बारी से सब को घर पहुँचाता हूँ। सब बीवियों की बद-दुआएँ मेरे हिसाब में लिखी जाती हैं। आधी तनख़ाह पेट्रोल में उड़ जाती है। यानी अव्वल नुक़्साने-मायः[1] मायः नहीं, मा'ए[2] यानी पेट्रोल, दोम शमातते-हमसायी।[3] अरे यार यह शमातत क्या लफ़्ज़ है—श-मा-तत। कुछ पंजाबी गाली मालूम होता है, नहीं?"... ठहाका।

---

१. मायः=दौलत; २. मा'ए=तरल पदार्थ; ३. पड़ोसिन की ख़ुशी—मुहावरा है—नुक्साने-मायः, शमातते हमसाया, अर्थात् घर बिगड़ा अपना और जगत की हँसाई।

..."कुछ तो ख़ुदा का ख़ौफ़ करो दोस्तो। किसी कमबख़्त को तौफ़ीक़ नहीं कि कभी ख़ुद ही उठ कर जो चला आये। मैं कोई टैक्सी ड्राइवर हूँ? शोफ़र हूँ? मीरासी हूँ? मुझे तनख़ाह देते हैं आप? या आप मेरी माशूक़ाएँ हैं, बरस पन्द्रह या कि सोलह का सिन है आपका? या आपके दहने-मुबारक (श्रीमुख) से हिकमत और मौइज़्ज़त (ज्ञान और उपदेश) के मोती बरसते हैं कि इस नाचीज़ का दामन गंजहाय-गराँमायः—ओय मायः, पेट्रोल वाला मा'ए नहीं, दूसरा, उसमान नोट करो, बल्कि तीसरा पंजाबी वाला नूने-ग़ुनः के साथ, ओय समझ आयी जे?...

[ 'उसमान नोट करो' की कहानी यह थी कि एक बुज़ुर्ग सज्जन बुख़ारी साहब को न जाने कब मिले थे। उनके बड़े लड़के उसमान की भी दाढ़ी सफ़ेद हो आयी, लेकिन बड़े मियाँ उन्हें वही मकतब का लड़का समझते और उन्हें इसी तरह सम्बोधित करते। चुनांचे यदि महफ़िल में कोई कहता कि मीर साहब, वो डिप्टी कलक्टर आपको पूछ रहे थे तो मीर साहब कड़क कर बोलते, "सही तलफ़्फ़ुज़ डिप्युटी है। उसमान, नोट करो।"...'समझ आयी जे' का क़िस्सा मैंने उन्हें सुनाया था और मुझे ख़ुर्शीद अनवर ने। भाटी इस्लामिया हाई स्कूल में कोई मास्टर साहब थे जो ब्लैक बोर्ड पर गणित का कोई सवाल हल करने के बाद क़रीब-क़रीब हमेशा अपने विद्यार्थियों से पूछते, "ओय, समझ आयी जे?" और लड़के हमेशा जवाब में कहते, "नहीं जी!" इस पर मास्टर साहब भन्ना कर एक मोटी-सी गाली देते और कहते, "नहीं समझ आयी तो जाओ फ़लाँ की फ़लाँ में।" बुख़ारी साहब सुन कर लोट-पोट हो गये। कहने लगे—"यार, अगर उसे यही कहना था तो पूछता ही क्यों था?" इसके बाद 'उसमान नोट करो' के साथ 'समझ आयी जे' भी उनकी महफ़िल की रोज़ की बोल-चाल में शामिल हो गया। ]

उनकी फ़रियाद अभी जारी थी—

..."देखो यारो, अगर कल मैं तुम में से किसी को टेलीफ़ोन करूँ कि भाई जान मुझे हैज़ा हो गया है, प्लेग की गिल्टी निकल आयी है, डाक्टर जवाब दे गये हैं, लबों पर दम है, ख़ुदा के लिए आ कर मुँह देख जाओ, तो

सौ फ़ी सदी यही जवाब मिलेगा कि मोटर में आ कर ले जाओ..."

"हमारे पास मोटर जो नहीं है।" तासीर साहब ने आहिस्ता से कहा।

"जी हाँ, और आप हर रोज़ कॉलेज तो मेरी ही मोटर पर तशरीफ़ ले जाते हैं और दिन भर जहाँ-जहाँ भी आप हज़रात झक मारा करते हैं, इसी ख़ाकसार के साथ तो जाते हैं। बात यह है कि तुम सब निहायत बुरे दोस्त हो। काहिल, बेक़ायदा, बेसलीक़ा, अगर मैं इस शहर में न होऊँ तो तुम महीनों एक-दूसरे की सूरत भी न देखो।"

और यही हुआ भी—

'उनके उठते ही दिगरगूँ रंगे-महफ़िल हो गया'

उधर बुख़ारी साहब लन्दन और मैक्सिको रवाना हुए, इधर यह बिसात उलट गयी। उनकी रात की महफ़िलें ऐसी उखड़ीं कि फिर कभी न जम सकीं। सन् '४९ में वो बहुत थोड़े समय के लिए लाहौर लौटे तो यहाँ की सूरते-अहवाल से बड़े दुखी हुए। कहने लगे, "यार तुम लोगों ने सब चौपट कर दिया है। अब हम जाइत हैं।" और इसके बाद ऐसे गये कि अपनी मिट्टी भी परदेस ही को सौंप दी।

बुख़ारी साहब के व्यक्तित्व का हल्का-सा नक़्श भी क़लम की पकड़ में कब आता है। यह काम तो उनके ही करने का था। हाँ, उन्हें याद करने बैठा हूँ तो यही निष्ठा, तत्परता, क़ायदा और सलीक़ा तरह-तरह से याद आते हैं। हँसी-ख़ुशी के लिए दोस्तों की महफ़िल का इन्तज़ाम तो शायद ऐसी बड़ी बात नहीं, हालाँकि हम में से बहुतेरे इतना भी नहीं करते और बुख़ारी साहब जैसी निष्ठा से तो कोई भी नहीं करता। लेकिन वे तो जो कुछ करते थे, ऐसे ही डूब कर करते थे। दफ़्तर हो या घर, लिखना हो या बातें गूढ़ साहित्यिक-विवाद हो या हुल्लड़बाज़ी। कोई शेर, कोई पंक्ति कोई वाक्य, किसी मेहराब का झुकाव, किसी शिलालेख की लिपि, किसी, ख़ोंचे वाले की आवाज़, कोई मुहावरा, कोई गाली, जहाँ भी दिल को रस

और राग का ज़रा-सा भी इशारा मिला, अपनी ख़ुशी में सभी को शरीक कर लिया।

दिल्ली की जलती हुई दोपहर में कभी भटक कर घटा आ गयी तो महायुद्ध, हिटलर और मुसोलिनी, आल इंडिया रेडियो, यूनाइटेड किंगडम और ऐसे ही सभी दफ़्तर एकदम बेमा'नी हो गये, दोस्तों के अफ़सरों को फ़ोन हुए कि डायरेक्टर जनरल आल इंडिया रेडियो अमुक-अमुक सज्जन से बहुत अहम बातें करना चाहते हैं। हम लोग भागम-भाग पहुँचे। बुख़ारी साहब दफ़्तर में दरबार लगाये बैठे हैं। आग़ा हमीद, सैयद रशीद अहमद, ग़ुलाम अब्बास या एकाध और, तासीर पहुँचे, मजीद मलिक आये, मैं गया। बुख़ारी साहब की विशिष्ट व्यंग्यपूर्ण मुस्कराहट उभरी।

"आइए आइए! आप कान्फ़्रेन्स करने आये हैं, तो करो"

और सब पर स्कूल से भागे हुए बच्चों की-सी कैफ़ियत तारी हो गयी। दिन भर क़ुतुब में बिताया, शाम को जामा मसजिद की दीवार तले कबाब खाये, एक निहायत बदनाम मुहल्ले में पान ख़रीदे, आधी रात तक इंडिया गेट के सामने बैठ कर बैत-बाज़ी की, फिर क्नाट प्लेस के जिस कॉफ़ी हाउस का दरवाज़ा खुला पाया, वहाँ से मिल्क शेक पिया और वहीं क्नाट प्लेस के मैदान में 'ग़ालिब' और 'नज़ीरी,' 'हाफ़िज़' और 'सादी,' 'इक़बाल' और 'गेटे,' 'हापकिन्ज़' और 'डिलन टामस' के गुण-दोषों के सम्बन्ध में कुछ भी तय न हो पाया कि मुर्ग़ अज़ानें देने लगे। मैंने कहा, "हमारे यहाँ चलिए, चाय पियेंगे।" बुख़ारी साहब बोले, "हरगिज़ नहीं। एक उसूल याद रखो। आदमी रात चाहे कहीं गुज़ारे, लेकिन सुबह हमेशा अपने बिस्तर से उठे। उस्मान, नोट करो!"

ख़ैर, ये क़िस्से तो उनकी अपनी दिलचस्पियों से ताल्लुक रखते हैं। लेकिन दोस्ती में उनकी मुस्तैदी और सलीक़े के बीसों दूसरे रूप और भी थे। एक रात मेरे घर महफ़िल पूरे शबाब पर थी। स्व० 'तासीर,' स्व० 'हसरत,' सूफ़ी तबस्सुम, आबिद अली 'आबिद,' आग़ा बशीर अहमद और बुख़ारी साहब। हसरत साहब ने उन्हीं दिनों अपना अजीब-ग़रीब अरबी गाना

ईजाद किया था और गगनभेदी स्वर में 'नज़ीरी' की किसी ग़ज़ल पर किसी अरबी धुन की छुरी चला रहे थे कि इतने में टेलीफ़ोन की घण्टी बजी। हमारे रिपोर्टर मियाँ शफ़ी टेलीफ़ोन पर थे। कहने लगे, "अभी-अभी एक टेलीफ़ोन ऑप्रेटर ने गवर्नमेन्ट हाउस से टेलीफ़ोन मिलाते में सुना है कि क़ायदे-आज़म फ़ौत हो गये हैं, आप जाँच कर लीजिए।" मैंने सन्देश दोहराया तो सन्नाटा छा गया। मैंने कहा, "आप लोग बैठिए, मैं दफ़्तर जाता हूँ।" बुख़ारी साहब ने कहा, "हम भी चलते हैं।" दफ़्तर पहुँच कर हज़ार जगह से समाचार की पुष्टि चाही, पर किसी ने कुछ न बताया। मैंने तय किया कि 'पाकिस्तान टाइम्ज़' और 'इमरोज़' के परिशिष्ट हर हाल में तैयार कर लिये जायँ। हो सकता है, रात में किसी वक़्त कोई ख़बर पहुँच जाय। मैं सम्पादकीय लिखने बैठा। बुख़ारी साहब क़ायदे-आज़म की जीवनी लिखने लगे, सूफ़ी साहब क़तअ-तारीख़[1] की फ़िक्र करने लगे। तासीर और हसरत 'इमरोज़' के सम्पादन में लग गये। मैंने रात भर काम किया। तीन बजे के क़रीब समाचार की पुष्टि हुई और जब हम दफ़्तर से निकले तो पौ फट चुकी थी और सुबह को जागने वाले लोग कारबार या 'कूए-यार' का रुख़ किये घरों से रवाना हो चुके थे। बुख़ारी साहब को पत्रकारिता या ख़ालिस राजनीतिक कारबार से लगाव न था। लेकिन उन्होंने इसी ढंग से कई रातें 'पाकिस्तान टाइम्ज़' के दफ़्तर और प्रेस में बितायीं। गाँधी जी के क़त्ल की रात, प्रेस में नयी रोट्री मशीन चालू होने की रात, १३-१४ अगस्त के बीच की रात। अब शायद यह बता देने में भी हर्ज नहीं कि उस समय के 'पाकिस्तान टाइम्ज़' के तीन या चार सम्पादकीय और विभिन्न नामों से सम्पादक के नाम बहुत से पत्र बुख़ारी साहब ही के लिखे हुए हैं। पत्रों के कालम में एक दिलचस्प विवाद मुझे विशेष रूप से याद है जो हफ़्तों चला। उसका श्रेय वास्तव में उन असली या नक़ली बुज़ुर्ग को है, जो मौलवी क़ैंची

---

१. कविता का बन्द जिसमें शब्दों का चुनाव कुछ ऐसे किया जाता है कि उर्दू पिंगल के जानकार मरने वाले के देहावसान का वर्ष जान लेते हैं।

के नाम से मशहूर थे और लोगों के कथनानुसार हर बेनक़ाब औरत की चोटी काटने की फ़िक्र में रहते थे। ऐसी दो-चार घटनाएँ सुनने में आयीं तो बुख़ारी साहब ने मौलवी साहब की सेवाओं और बेनक़ाब महिलाओं के पक्ष में एक बड़ा ज़ोरदार पत्र Mere Woman के नाम से लिखा। इस पर औरतों की आज़ादी के समर्थकों और विरोधियों में बड़े ज़ोरों की बहस चली और जब तक चलती रही, बुख़ारी साहब उनमें से अधिकांश पत्रों का संशोधन और सम्पादन 'पाकिस्तान टाइम्ज़' के दफ़्तर में बैठ कर स्वयं करते रहे।

उन्हें बच्चों से ख़ास लगाव न था। (छोड़ो यार, औरतों का महकमा है।) लेकिन वो क़रीब-क़रीब हर छुट्टी के दिन हमारे और तासीर साहब के बच्चों से 'लॉज़' में आँख-मिचौली खेलते, उनके लिए नये-नये खेल ईजाद करते, गीत गाते और कहानियाँ सुनाते।

वो बूढ़ों से और भी ज़्यादा भागते थे। लेकिन उन्हीं दिनों लन्दन से मेरी बीवी के माँ-बाप हमारे यहाँ आये तो बुख़ारी साहब ने एक ही मुलाक़ात में उनसे भी घनिष्ठता बढ़ा ली। वे बेचारे अगले वक़्तों के सीधे-सादे सफ़ेद-पोश अंग्रेज़ लोग, जिन्हें बुख़ारी साहब के ज़ेहनी मशग़लों से दूर का भी लगाव न था। उस शाम बुख़ारी साहब पहुँचे तो मैं और मेरी बीवी दोनों यह समझे कि आज उनका रंग न जमेगा और रस्मी बात-चीत से आगे सिलसिला न बढ़ सकेगा। ख़ैर, परिचय और दो-चार इधर-उधर की बातें हुईं। फिर बुख़ारी साहब अचानक बोले, "मिसेज़ जार्ज! आपको पहले महायुद्ध के बाद का कोई गाना याद है। मसलन अमुक गाना।" और कोई पुराना अंग्रेज़ी गीत गुनगुनाने लगे। हमारी सास को गाने से दिलचस्पी थी, झट खुल गयीं और फिर दो-गानों का ऐसा ताँता बँधा कि दोनों को दीन-दुनिया की सुध न रही, यहाँ तक कि दोनों संगीतज्ञ हाँफने लगे। यह ऐक्ट समाप्त हुआ तो बुख़ारी साहब बड़े मियाँ से मुख़ातिब हुए, "मिस्टर जार्ज! छोड़िए इन औरतों को। चलिए, हम दोनों चलें।"

"कहाँ लिये जाते हो मेरे बुड्ढे को !" मिसेज़ जार्ज पुकारीं।

"हम ऐश करने जा रहे हैं मिसेज़ जार्ज ! Going to Paint the town red" और रात गये तक उन्हें लाहौर के रेस्तरानों में घुमाते और ऐंग्लो इंडियन लड़कियों के नाच दिखाते रहे।

लेकिन इन सब अदाओं के बावजूद अपरिचित लोग बुख़ारी साहब को बहुत ही लिये-दिये रहने वाला बड़ा साहब समझते थे, और यह भावना बहुत ग़लत भी नहीं थी। उम्र भर की बेतकल्लुफ़ी के बावजूद हम में से भी किसी का यह हौसला न था कि उनके काम के समय में दख़ल दे सके या उनकी फ़रमाइश के बिना उनके किसी काम में बाधक हो। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते थे कि बुख़ारी साहब लिबास बदलते हैं तो साथ ही व्यक्तित्व भी बदल लेते हैं, दफ़्तर में और, घर में और, महफ़िल में और। वास्तव में ऐसा नहीं था, बल्कि यह उनके बहुत ही नपे-तुले क़ायदे और सलीक़े का प्रदर्शन था। एक बार एक बहुत ही बा-तकल्लुफ़ लेकिन कुछ ग़ैर-दिलचस्प-से सज्जन मेरे घर तशरीफ़ लाये। मैं बुख़ारी साहब के यहाँ जाने की फ़िक्र में था। कहने लगे, "भई उनसे मिलने को बेहद जी चाहता है। मुझे भी ले चलो।" मैंने कहा, "चलिए।" बुख़ारी साहब के माथे पर उन्हें देखते ही हल्की-सी शिकन उभरी। ये साहब पहले तो गुम-सुम बैठे रहे, फिर एकाध योंही-सी बात की। बुख़ारी साहब उठ खड़े हुए। कहने लगे, "साहब, इस वक़्त बदक़िस्मती से मैं मसरूफ़ हूँ। माफ़ी चाहता हूँ। इंशाअल्लाह, फिर कभी मुलाक़ात होगी। हम चलने लगे तो चुपके से पूछा, "इसके बाद क्या प्रोग्राम है ?" मैंने कहा, "दफ़्तर जाऊँगा।" मैं अपने साथी से विदा हो कर दफ़्तर पहुँचा तो थोड़ी देर में बुख़ारी साहब भी आ गये। पूछा, "वो कौन थे ?" मैंने बताया कि फ़लाँ थे, बहुत भले आदमी हैं। कहने लगे, "तकल्लुफ़ में वक़्त बरबाद करना तक तो ख़ैर जायज़ है, लेकिन तकल्लुफ़ में बोर होना किसी सूरत में भी जायज़ नहीं। वह अमृता शेरगिल तुम्हें याद है ? क्या ग़ज़ब की औरत थी ? एक बार उसके ऑनर में यहीं फ़्लैटीज़ में एक बहुत

बड़ी दॉवत थी। बड़ा-बड़ा ख़ान बहादुर और राय बहादुर बैठा था। अमृता आ कर बैठीं। आस-पास के लोगों से कुछ देर बात की और खाना शुरू भी न हुआ था कि उठ खड़ी हुईं। 'मैं बोर हो गयी। मैं जाती हूँ।' मेज़बान और मेहमान देखते ही रह गये और वह खट-खट यह जा, वह जा! इख़लाक़ी जुरअत (नैतिक साहस) इसे कहते हैं। मुझे आज तक उस वाकये से रश्क (ईर्ष्या) आता है।"

यह तो एक क़ायदा था। दूसरा क़ायदा यह था कि 'काम के वक़्त डट कर क़ायदे से काम करो ताकि काम के बाद डट कर बेक़ायदगी कर सको।' और क़ायदे का हाल यह था कि आल इंडिया रेडियो की पहाड़-सी इमारत और हिन्दुस्तान भर में बिखरा हुआ चींटियों का-सा स्टाफ़। लेकिन दूसरे दफ़्तरी काम के अलावा उस इमारत की हर खिड़की के हर शीशे, हर दरवाज़े के हर क़ब्ज़े, हर कमरे के हर कोने की सफ़ाई और उस स्टाफ़ के हर व्यक्ति की हर सरकारी और ग़ैर-सरकारी गति-विधि पर उनकी नज़र रहती थी। और यह तो ख़ैर मुमकिन ही न था कि लगातार हंगामा आराई, कूचागर्दी और रतजगों के बावजूद उनकी गाड़ी हर सुबह नौ बजने से पाँच मिनट पहले दफ़्तर की इमारत में दाख़िल न हो।

लेकिन इस सारी क़ायदेबाज़ी में साथ-ही-साथ उनकी विनोद-प्रियता और उपज भी कसमसाती रहती थी। एक बार मैंने देखा कि घर में अँगीठी के सामने बहुत-सी फ़ाइलें लिये बैठे हैं और फ़ाइलों में से काग़ज़ात निकाल कर आग में झोंके जा रहे हैं।

"यह क्या हो रहा है?" मैंने हैरत से पूछा।

"देखो, इसको अंग्रेज़ी ज़बान में कहते हैं—Quick disposal बात यह है कि इन सब फ़ाइलों में महज़ ख़ुराफ़ात भरी है और इस ख़ुराफ़ात से छुटकारा पाने की अकेली सूरत यही है कि इसका नाम-निशान सरकार आली के दफ़्तर से एकदम मिटा दिया जाय।" यह दूसरी बात है कि इस तरह की ख़ुराफ़ात वो ख़ुद ही ईजाद भी करते रहते थे। हमारे पढ़ने के

दिनों में वो गवर्नमेन्ट कॉलेज में अंग्रेज़ी के उस्ताद भी थे और पंजाब टेक्स्ट बुक कमेटी के सेक्रेटरी भी। एक दिन हम दो-तीन दोस्त किसी काम से टेक्स्ट बुक कमेटी के दफ़्तर गये। बुख़ारी साहब ने देखा तो अपने कमरे में बुला लिया। कहने लगे, "तुम्हें मालूम है, इस दफ़्तर में क्या काम होता है। यह देखो।" और काग़ज़ात में से एक काफ़ी मोटी-सी फ़ाइल निकाली जिसके मुख पृष्ठ पर लिखा था—"Office cat" यानी दफ़्तर की बिल्ली। "यह कौन-सी कोर्स की किताब है?" हमने पूछा। बोले, "क़िस्सा यों है कि एक दिन मेरे कमरे में एक बिल्ली आ गयी। मुझे अच्छी लगी। मैंने किसी से कहा, इसे थोड़ा-सा दूध पिला दो। फिर वो बिल्ली हर रोज़ आने लगी और हर रोज़ उसे दूध भी मिलने लगा। महीने के आख़िर में सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब ने दफ़्तर के ख़र्च का बिल मुझे भेजा तो उसके साथ एक तहरीरी (लिखित) सवाल यह भी लगा था कि बिल्ली के दूध पर चौदह रुपये साढ़े छै आने की रक़म ख़र्च हुई है, वह किस मद में जायेगी? मैंने लिख भेजा कंटिंजेंसी यानी अकस्माती ख़र्च में डाल दो। थोड़े दिनों के बाद एकाउँटेन्ट जनरल के दफ़्तर ने बिल लौटा दिया और नोट लिखा कि कंटिंजेंसी की मद दफ़्तर के साज़-सामान और अन्य बेजान चीज़ों के लिए है। बिल्ली जानदार चीज़ है और उसका ख़र्च कंटिंजेंसी में शामिल नहीं किया जा सकता। इस पर सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब ने मुझसे फिर लिखित आदेश माँगा। मैंने लिखा कि जानदार और ग़ैर-जानदार की बात है तो यह ख़र्च इस्टेब्लिश्मेंट यानी स्टाफ़ की मद में डाल दो। दोबारा बिल ख़ज़ाने को रवाना हुआ और थोड़े दिनों में लौट आया। अबकी एक काफ़ी लम्बे नोट में ये सवाल थे कि अगर यह ख़र्च स्टाफ़ की मद में जायेगा तो स्पष्ट किया जाये कि इस रक़म को तनख़ाह माना जाये या एलाउन्स? अगर तन्ख़ाह है तो अमुक, अमुक, अमुक क़ायदे के अनुसार दफ़्तर की पेशगी मंज़ूरी दरकार है। और अगर यह एलाउन्स है तो अमुक, अमुक, अमुक क़ायदे के अनुसार अफ़सर से इसकी तसदीक़ लाज़िमी है...चुनांचे यह फ़ाइल छै महीने से चल रही है और इसमें ऐसे-ऐसे नाज़ुक और बारीक नुक्ते बयान हुए हैं

जवाब नहीं। ...फिर एक फ़ाइल और निकाली जिसके मुखपृष्ठ पर लिखा था—पत्र-व्यवहार प्रोफ़ेसर ए० एस० बुख़ारी, सेक्रेटरी, टेक्स्ट बुक कमेटी और प्रोफ़ेसर ए० एस० बुख़ारी, अंग्रेज़ी विभाग, गवर्नमेंन्ट कॉलेज लाहौर के बीच। कहने लगे—सुनो, यह पहला ख़त है, प्रोफ़ेसर ए० एस० बुख़ारी, सेक्रेटरी, टेक्स्ट बुक कमेटी की तरफ़ से—

प्रो० ए० एस० बुख़ारी,
इंगलिश विभाग,
गवर्नमेन्ट कॉलेज, लाहौर।

जनाब वाला,

आपकी याद-दहानी के लिए अर्ज़ है कि पिछले महीने आपको पाँच किताबें, जिनकी तफ़सील नीचे लिखी है, रिव्यू के लिए भेजी गयी थीं, लेकिन ये रिव्यू अभी तक वसूल नहीं हुए। मेहरबानी करके जल्दी ध्यान दीजिए।

आपका नियाज़मन्द
—ए० एस० बुख़ारी

इसके बाद याद-दहानी के दो ख़त और हैं। और तीसरा ख़त यह है—

प्रो० ए० एस० बुख़ारी, सेक्रेट्री, टेक्स्ट बुक कमेटी, लाहौर की ओर से प्रो० ए० एस० बुख़ारी, इङ्गलिश विभाग, गवर्नमेन्ट कालेज, लाहौर के नाम।

जनाब वाला,

आपको टैक्स्ट बुक कमेटी की तरफ़ से जो पाँच किताबें ( जिनकी तफ़सील नीचे लिखी है ) भेजी गयी थीं, उनमें से तीन के रिव्यू वसूल हो गये हैं, जिसके लिए कमेटी आपकी शुक्रगुज़ार है। लेकिन कमेटी आपका ध्यान इस ओर दिलाना चाहती है कि बड़े आग्रह के बाद भी आपने दो किताबों यानी ( किताबों के नाम ) के बारे में अभी तक अपनी राय नहीं भेजी। कमेटी इस देर के कारण समझने में असमर्थ है। आपको चेतावनी दी जाती है कि अगर अमुक तारीख़ तक आपकी

राय वसूल न हुई तो आपका नाम रिव्यू करने वालों की सूची से काट दिया जायगा।

आपका नियाज़मन्द
—ए० एस० बुख़ारी

और इसका जवाब यह है—

जनाब वाला,

बाक़ी दो किताबों के रिव्यू इस ख़त के साथ भेजे जा रहे हैं। मैं यह कहे बग़ैर नहीं रह सकता कि आपके ख़त का आख़िरी पैराग्राफ़ इन्तहाई क़ाबिले-एतराज़ है। सीनियर अफ़सरों को मुख़ातिब करने का यह अन्दाज़ क़तई ग़ैरमौज़ूँ है।

आपका नियाज़मन्द
—ए० एस० बुख़ारी

फिर बुख़ारी साहब ने फ़ाइलें और काग़ज़ात समेटे और बोले, "अच्छा, अब तुम रफ़ूचक्कर हो जाओ। मुझे बहुत काम है।"

लेकिन ये सब कुछ तो सिर्फ़ बुख़ारी साहब की बातें हैं, बुख़ारी तो नहीं हैं। वे विद्वान भी थे; साहित्यकार भी; उस्ताद भी, संगी भी; हँसोड़ भी, हास्य-लेखक भी; कठोर अनुशासक भी; बेफ़िक्र बाँके भी और आख़िर में विचारक और राजनीतिज्ञ भी। लेकिन ये सब गुण गिना देने से भी क्या होता है। उनकी ज़िन्दगी का बुनियादी पहलू तो यह है कि उसका कोई भी क्षण निरुद्देश्य और व्यर्थ नहीं बीता और उनमें से अधिकांश सृष्टि की हर चीज़ से अच्छाई, सुन्दरता और ख़ुशी पाने और उससे लाभ उठाने में बीते और वे दिल और निगाह की इस दौलत को उम्र भर महफ़िलों, गोष्ठियों, घरों और बाज़ारों में यों बिखेरते रहे कि अपने नाम की यादगार के लिए उसका कुछ भी न बचा। मुझे इस दौर के किसी ऐसे व्यक्ति का पता नहीं, जिसने इतने बहुत-से लोगों के लिए इतना सुख और मनोरंजन ढूँढ़ा और रचा हो।

## साहिर लुधियानवी

●●●

देवेन्द्र सत्यार्थी

मुझे अच्छी तरह याद है। उस रोज़ दिन भर बारिश होती रही। शाम के वक़्त बूँदें ज़रा थम गयी थीं, लेकिन आकाश पर अभी तक बादल छाये थे। ऐसा लगता था कि अभी-अभी मेंह फिर बरसने लगेगा। मैं और गोपाल मित्तल 'मकतबा-उर्दू' से ब्रांडर्थ रोड की तरफ़ जा रहे थे। अनारकली के चौक पर किसी ने मित्तल का नाम ले कर आवाज़ दी। हमने मुड़ कर देखा, बायें हाथ, मुल्लाँ हुसैन हलवाई की दुकान के सामने, एक सिक्ख युवक हमें बुला रहा था। यह युवक राजेन्द्र सिंह बेदी था, जिसे मैं एक बार पहले 'हलक़ा-ए-अरबाबे-ज़ौक़'[१] की मीटिंग में देख चुका था। उसके साथ एक और व्यक्ति था—लम्बे-लम्बे बाल, लम्बी और घनी दाढ़ी, मैला और लम्बा ओवर कोट!

"आओ, तुम्हें एक बहुत बड़े फ्रॉड से मिलायें।" गोपाल मित्तल ने कहा।

---

१. एक साहित्यिक संस्था।

"किससे ?" मैंने पूछा।

"देवेन्द्र सत्यार्थी से।" उसने जवाब दिया।

देवेन्द्र सत्यार्थी उस वक़्त गाजर का हलवा खाने में तल्लीन था, इसलिए जब गोपाल मित्तल ने मेरा परिचय कराया तो उसने विशेष ध्यान न दिया।

मैं उन दिनों दयालसिंह कॉलेज, लाहौर में बी० ए० का विद्यार्थी और नया-नया लुधियाना से लाहौर आया था। अदीबों से मेरा परिचय कम ही था।

सत्यार्थी ने हलवे की प्लेट ख़त्म करने के बाद बेदी की तरफ़ देखा और कहा, "बड़ी मज़ेदार चीज़ है दोस्त! एक प्लेट और नहीं ले दोगे ?"

बेदी उस वक़्त गोपाल मित्तल से किसी साहित्यिक विषय पर बातें कर रहा था।

"ले लो।" उसने जल्दी से कहा।

"लेकिन कैसे ?" सत्यार्थी बोला, "तुम पैसे दो तब न!"

"ओह!" बेदी ने ज़रा चौंकते हुए कहा और हलवाई को पैसे अदा कर के हलवे की दूसरी प्लेट देवेन्द्र सत्यार्थी के हाथ में थमा दी।

सत्यार्थी फिर हलवा खाने में निमग्न हो गया।

बेदी और मित्तल बातें करने लगे।

मैं ख़ामोश एक तरफ़ खड़ा रहा।

हलवे की दूसरी प्लेट ख़त्म करने के बाद सत्यार्थी ने अपनी जेब से एक मैला ख़ाकी रूमाल निकाल कर हाथ पोंछे। पास पड़ी हुई टीन की कुर्सी पर से अपना कैमरा और चमड़े का थैला उठाया और गोपाल मित्तल की तरफ़ बढ़ते हुए बोला, "यार मित्तल, एक ख़ुशख़बरी सुनोगे ?"

"क्या ?" उसने कहा।

"मैं प्रगतिशील हो गया हूँ।"

"कब से ?" गोपाल मित्तल ने मुस्कराते हुए पूछा।

"था तो शुरू ही से। लेकिन यह कहानी जो मैंने अभी-अभी लिखी है, इसके बाद तो सौ प्रतिशत हो गया हूँ।"

"हूँ !. तो गोया तुमने फिर एक कहानी लिखी है ?"

"लेकिन इस कहानी और मेरी पिछली कहानियों में फ़र्क़ है। यह कहानी मैंने विशुद्ध प्रगतिशीलता के सिद्धान्तों को सामने रख कर लिखी है।" सत्यार्थी ने कहा और फिर बेदी की ओर हाथ बढ़ाते हुए बोला, "अच्छा तो यार बेदी ! अब तुम चलो, मैं ज़रा गोपाल मित्तल को कहानी सुना लूँ।"

"और बेदी को क्यों नहीं ?" गोपाल मित्तल ने बड़ी बेबसी के साथ बेदी की ओर देखते हुए कहा।

"मैं यह कहानी दो बार सुन चुका हूँ।" बेदी मुस्कराया, "इसके अलावा मुझे अभी-अभी रेडियो स्टेशन पहुँचना है। शाम की ख़बरों के बाद मेरी टॉक है।"

"हाँ हाँ, आप जाइए।" सत्यार्थी ने बेदी को विदा करते हुए कहा।

बेदी चला गया।

मैं और गोपाल मित्तल एक-दूसरे की ओर देखने लगे। सत्यार्थी ने अपने चमड़े के थैले में से काग़ज़ों का एक पुलिन्दा निकाला और पन्ने उलटते हुए बोला :

"तो फ़िर (यानी फिर) कहाँ बैठें ?"

"अब तुम आप ही बताओ।"

"मेरा ख़याल है, सामने के लॉन में ठीक रहेगा।"

"लेकिन लॉन में तो बारिश की वजह से पानी जमा हो गया है।"

"ओह मुझे ख़याल ही नहीं रहा। तो फ़िर तुम यों करो, थोड़ी दूर मेरे साथ चलो। यहाँ से एक फ़र्लांग के फ़ासिले पर शीतला मन्दिर है। वहाँ इत्मीनान से बैठ सकेंगे।"

शीतला मन्दिर का फ़र्श यात्रियों के आने-जाने से कीचड़ में लथपथ हो रहा था और उस कीचड़ में बड़े-बड़े कीड़े-मकौड़े कुलबुला रहे थे। मित्तल ने देवेन्द्र सत्यार्थी की तरफ़ घूर कर देखा और पूछा, "तुम कहानी ज़रूर सुनाओगे ?"

"हाँ दोस्त ! तुम नहीं सुनोगे तो मुझे बड़ा दुख होगा।" सत्यार्थी ने अनुनय के स्वर में कहा, "मैं तुम्हारी राय लेना चाहता हूँ।"

"अच्छा तो एक मिनट इन्तज़ार करो।" मित्तल बोला और मन्दिर से बाहर निकल गया।

थोड़ी देर के बाद एक ताँगा मन्दिर के दरवाज़े के बाहर आ कर रुका और गोपाल मित्तल ने उस ताँगे में से गर्दन निकाल कर हमें पुकारा। हम दोनों जा कर ताँगे में बैठ गये। ताँगा चलने लगा। रास्ते भर गोपाल मित्तल ने कोई बात नहीं की। सत्यार्थी भी ख़ामोश बैठा रहा। ताँगा इण्डिया कॉफ़ी हाउस के सामने जा कर रुक गया।

"चलो।" गोपाल मित्तल ने सत्यार्थी से कहा।

"कहाँ ? कॉफ़ी हाउस में ?" सत्यार्थी का चेहरा जैसे एकदम खिल उठा।

"हाँ...चलो उतरो !"

"यार मित्तल, तुम सचमुच कम्युनिस्ट हो। अब तो मुझे यक़ीन हो गया है कि सोवियत रूस में लेखकों और कलाकारों का ख़ास ख़याल रखा जाता होगा।"

सत्यार्थी फिर मुस्कराया और कॉफ़ी हाउस की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए मसौदे के पन्ने उलटने लगा।

यह मेरी उससे पहली मुलाक़ात थी।

इसके बाद वह मुझे कई बार मिला। कभी किसी जनरल मर्चेन्ट की दुकान के सामने, कभी किसी डाकख़ाने के गेट पर, कभी किसी किताबों की दुकान में, कभी मैक्लोड रोड और निस्वत रोड के चायख़ानों में और कभी योंही राह चलते।

हर बार वह मेरे निकट आ कर मुझसे पूछता, "कहिए, आपका मिज़ाज कैसा है ? इस वक़्त किधर से आ रहे थे ? कहाँ जाइएगा ? आपने कोई नयी नज़्म लिखी ?"...और जब मैं चलने लगता तो वह मुझे रोक कर कहता,

"माफ़ कीजिए, मुझे आपका नाम याद नहीं रहा।"

मैं उसे फिर से अपना नाम बता देता।

"हाँ, हाँ, हाँ।" वह कहता और फिर झूमता हुआ एक तरफ़ को चला जाता। इसी तरह कोई दो महीने गुज़र गये। आहिस्ता-आहिस्ता मुझे यक़ीन होने लगा कि यह व्यक्ति कभी मुझसे कोई नया सवाल नहीं पूछेगा औ कभी इसको मेरा नाम याद नहीं होगा।

एक शाम मैं अपने एक दोस्त के साथ निस्बत रोड से गुज़र रहा था कि सामने से सत्यार्थी आता हुआ दिखायी दिया।

"हलो, हलो, आपका मिज़ाज कैसा है?" उसने पूछा।

"आपकी मेहरबानी है," मैंने जवाब दिया, "इस वक़्त मैं लॉ कॉलेज होस्टल से आ रहा हूँ। ये मेरे दोस्त राम प्रकाश अश्क हैं। हम दोनों सिनेमा देखने जा रहे हैं। मैंने कोई नयी नज़्म नहीं लिखी, मेरा नाम साहिर लुधियानवी है। कहिए, आप सिनेमा देखने चलेंगे?"

"नहीं!" सत्यार्थी ने जवाब दिया। उसके स्वर की नर्मी और उपेक्षा पहले ही-जैसी थी। मैंने देखा, उसका चेहरा एकदम उदास हो गया था। मुझे अपने बात करने के अन्दाज़ पर खेद होने लगा, प्रतिशोध की भावना के बावजूद, जो अपनी लगातार उपेक्षा किये जाने के कारण मेरे दिल में पैदा हो गयी थी, मैं सत्यार्थी की इज़्ज़त करता था, क्योंकि 'वह मैं हूँ ख़ानाबदोश' का लेखक था और उसने गाँव-गाँव घूम कर भारत की विभिन्न भाषाओं के अढ़ाई लाख से ज़्यादा गीत इकट्ठा किये थे, जिन से मैंने भारत की सभ्यता, कला और संस्कृति के बारे में बहुत कुछ सीखा था। मैंने निश्चय किया कि मुझे उससे माफ़ी माँग लेनी चाहिए।

लेकिन वह उस वक़्त जा चुका था।

फिर बहुत दिनों तक मेरी और उसकी भेंट नहीं हुई। इसके बाद जब वह मुझे लाहौर के एक प्रसिद्ध उर्दू प्रकाशक की दुकान पर मिला तो उसे मेरा नाम याद था।

सत्यार्थी प्रकाशक की दुकान पर उससे माफ़ी माँगने के लिए आया था। कुछ दिन पहले उसने 'अगले तूफ़ाने-नूह तक' के शीर्षक से उर्दू की साहित्यिक संस्था 'हलक़ा-ए-अरबाबे-ज़ौक' की साप्ताहिक गोष्ठी में उस प्रकाशक के ख़िलाफ़ एक कहानी पढ़ी थी, जिस पर प्रकाशक बेहद ख़फ़ा था। लेकिन जब सत्यार्थी ने उसे बताया कि यह कहानी वह उसकी पत्रिका में बिना पारिश्रमिक के देने को तैयार है तो प्रकाशक ने उसे माफ़ कर दिया और उसे अपने साथ निज़ाम होटल में चाय पिलाने ले गया। मैं और फ़िक्र तौंसवी भी साथ थे। रास्ते में देवेन्द्र सत्यार्थी प्रकाशक के कंधे पर हाथ रख कर चलने लगा और बोला, "चौधरी! तुम्हारी पत्रिका उस जिन्न के पेट की तरह है, जो एक बस्ती में घुस आया था और उस वक़्त तक बस्ती से बाहर जाने पर राज़ी नहीं हुआ था, जब तक वहाँ के लोगों ने उसे यह यक़ीन नहीं दिला दिया कि वो हर रोज़ गुफा में एक आदमी भेंट के तौर पर भेजते रहेंगे।...तुम भी वैसे ही एक जिन्न हो और तुम्हारी पत्रिका तुम्हारा पेट है। हम बेचारे अदीब और शायर हर महीने उसके लिए खाना जुटाते हैं, लेकिन उसकी भूख मिटने में नहीं आती...और यह फ़िक्र तौंसवी," उसने फ़िक्र की तरफ़ मुड़ते हुए कहा, "यह तुम्हारा गुमाशता है, जो हर वक़्त हमें धमकाता रहता है कि अगर जिन्न का राशन पहुँचाने में देर हुई तो जिन्न तुम्हारी किताबें, तुम्हारे मसौदे, तुम्हारी रायल्टी सब खा जायेगा, कुछ बाक़ी नहीं छोड़ेगा।"

प्रकाशक चुपचाप सुनता रहा।

"अब मुझी को देखो।" सत्यार्थी फिर बोला, "मैंने तुम्हारे ख़फ़ा होने के डर से तुम्हें मुफ़्त कहानी देना मंज़ूर कर लिया। लेकिन तुम ही बताओ, क्या मेरा जी नहीं चाहता कि मैं साफ़ और सुथरे कपड़े पहनूँ, मेरे जूते तुम्हारे जूतों की तरह क़ीमती और चमकीले हों। मेरी बीवी अपने जिस्म पर रेशमी साड़ी पहने और मेरी बच्ची तुम्हारी बच्ची की तरह ताँगे में स्कूल जाये। लेकिन कोई मेरी भावनाओं का ख़याल नहीं करता, कोई मुझे मेरी कहानी का मेहनताना बीस रुपये से ज़्यादा नहीं देता और तुम हो कि वो

बीस रुपये भी हज़म कर जाते हो। ख़ैर तुम्हारी मर्ज़ी। चाय पिलाये देते हो, यही बहुत है।"

प्रकाशक फिर भी चुपचाप सुनता रहा।

हम लोग होटल के गेट में दाख़िल हो गये। सत्यार्थी ने प्रकाशक के कन्धे से हाथ उठा लिया और अलग हो कर चलने लगा।

मैं उसी रोज़ शाम की गाड़ी से लायलपुर जा रहा था। होटल में पहुँच कर प्रकाशक ने मुझसे पूछा, "आप वापस कब आयेंगे?"

"दो-तीन रोज़ में।" मैंने जवाब दिया।

"तुम कहीं बाहर जा रहे हो?" सत्यार्थी ने पूछा।

"हाँ, दो-एक रोज़ के लिए लायलपुर जा रहा हूँ।" मैंने कहा।

"लायलपुर?" वह बोला। और फिर न जाने किस सोच में डूब गया। फिर थोड़ी देर के बाद उसने पूछा, "अगर मैं तुम्हें अपना कैमरा दे दूँ तो क्या तुम मेरे लिए किसानों के झूमर नाच की तस्वीर उतार लाओगे?"

"मेरे लिए तो यह बहुत मुश्किल है।" मैंने कहा, "तुम ख़ुद क्यों नहीं चलते?"

"मैं?...मेरा जी तो बहुत चाहता है।" वह बोला, "लेकिन..." वह एक मिनट रुका और फिर थैले से काग़ज़ों का एक पुलिन्दा निकाल कर प्रकाशक से बोला, "चौधरी! यह मेरी नयी कहानी है, अगर तुम इसके बदले में मुझे बीस रुपये दे दो तो..."

प्रकाशक ने कहानी ले कर जेब में रख ली और बोला, "आप साहिर से क़र्ज़ ले लीजिए। जब आप लोग लौटेंगे तो मैं उन्हें रुपये दे दूँगा।"

"तुम अपनी कहानी वापस ले लो।" मैंने सत्यार्थी से कहा, "आज-कल मेरे पास रुपये हैं।"

लेकिन प्रकाशक ने कहानी वापस नहीं की। सत्यार्थी चुपचाप मेरे साथ चल पड़ा। रास्ते में मैंने उससे कहा, "तुम जल्दी से घर जा कर बतलाते आओ। अभी गाड़ी छूटने में काफ़ी वक़्त है।"

"नहीं, इसकी कोई ज़रूरत नहीं।" वह बोला, "मेरी बीवी मेरी आदत जानती है। अगर मैं दो-चार दिन के लिए घर से ग़ायब हो जाऊँ तो उसे उलझन या परेशानी नहीं होती।"

"तुम्हारी मर्ज़ी।" मैंने कहा और उसको साथ ले कर चल पड़ा।

गाड़ी मुसाफ़िरों से खचाखच भरी हुई थी और कहीं तिल धरने की जगह नहीं थी। बहुत से लोग बाहर पायदानों पर लटक रहे थे और वे लोग, जिन्हें पायदानों पर भी जगह नहीं मिली थी, गाड़ी की छत पर चढ़ने का प्रयास कर रहे थे। सिर्फ़ फ़ौजी डिब्बों में जगह थी, लेकिन उनमें ग़ैर-फ़ौजी सवार नहीं हो सकते थे।

"अब क्या किया जाय?" मैंने सत्यार्थी से पूछा।

"ठहरो, मैं किसी सिपाही से बात करता हूँ।" वह बोला।

"कुछ फ़ायदा नहीं," मैंने कहा, "वो जगह नहीं देंगे।"

"तुम आओ तो सही।" वह मुझे बाज़ू से घसीटते हुए बोला और जा कर एक फ़ौजी से कहने लगा, "मैं शायर हूँ, लायलपुर जाना चाहता हूँ। आप मुझे अपने डिब्बे में बिठा लीजिए। मैं राह में आपको गीत सुनाऊँगा।"

"नहीं-नहीं, हम को गीत-वीत कुछ नहीं चाहिए।" डिब्बे में बैठे हुए सिपाही ने ज़ोर से हाथ झटकते हुए कहा।

"क्या माँगता है?" एक दूसरे फ़ौजी ने अपनी सीट पर से उठते हुए तीसरे फ़ौजी से पूछा।

तीसरे फ़ौजी ने बंगला भाषा में उसे कुछ जवाब दिया।

"मैं सचमुच शायर हूँ," सत्यार्थी ने कहा, "मुझे सब भाषाएँ आती हैं।" और फिर वह बंगला बोलने लगा।

फ़ौजी आश्चर्य से उसका मुँह ताकने लगे।

"तमिल जानता है?" एक नाटे क़द के काले-भुजंग फ़ौजी ने डिब्बे की खिड़की में से सिर निकाल कर उससे पूछा।

"तमिल, मराठी, गुजराती, पंजाबी सब जानता हूँ!" सत्यार्थी ने कहा,

"आपको सब भाषाओं के गीत सुनाऊँगा।"

"अच्छा ?" तमिल सिपाही ने कहा।

"हाँ !" सत्यार्थी बोला और तमिल में उससे बातें करने लगा।

तभी इंजन ने सीटी दे दी।

"तो क्या मैं अन्दर आ जाऊँ ?" सत्यार्थी ने पूछा।

दरवाज़े के पास बैठा हुआ सिपाही कुछ सोचने लगा।

"गीत पसन्द न आयें तो अगले स्टेशन पर उतार देना।" सत्यार्थी बोला।

फ़ौजी हँस पड़ा और बोला, "आ जाओ !"

सत्यार्थी मेरे हाथ से अटैची ले कर जल्दी से अन्दर घुस गया।

मैं डिब्बे के सामने बुत बना खड़ा रहा।

"आओ आओ, चले आओ।" सत्यार्थी ने सीट पर जगह बनाते हुए दोनों हाथों के इशारे से मुझे बुलाया।

फ़ौजियों ने घूर कर मेरी तरफ़ देखा।

मैं दो क़दम पीछे हट गया।

"यह भी शायर है," सत्यार्थी ने कहा, "यह भी गीत सुनायेगा। हम दोनों गीत सुनायेंगे।"

सिपाहियों ने मुझे सिर से पैर तक ग़ौर से देखा। मालूम होता था कि उन्हें मेरे शायर होने का विश्वास नहीं हो रहा है। शायद वे सोच रहे थे कि यह तेइस-चौबीस वर्ष का छोकरा वही चीज़ कैसे हो सकता है, जो यह लम्बी दाढ़ी वाला संन्यासी है।

"तुम भी सब भाषाएँ जानते हो ?" एक सिपाही ने दरवाज़ा खोलते हुए मुझसे पूछा।

"नहीं।" मैंने जवाब दिया।

"हूँ।" उसने कुछ इस ढंग से कहा मानो कह रहा हो, 'फिर तुम क्या जानते हो, तुम्हारा क्या फ़ायदा है ?'

मैं सत्यार्थी के साथ सीट पर बैठ गया। जब ट्रेन चल पड़ी तो मैंने

सत्यार्थी से कहा, "मैं अगले जंक्शन पर उतर जाऊँगा।"

"लेकिन उतर कर जाओगे किस डिब्बे में?" उसने कहा।

मैं ख़ामोश हो गया।

सिपाही बड़े चाव और दिलचस्पी से सत्यार्थी के साथ बातें करने लगे। सत्यार्थी बड़े प्यार के साथ उनके गाँव, गाँव के निकट बहती हुई नदियों, नदियों के किनारे लहलहाते हुए खेतों, रस्मों, त्योहारों की बातें करता रहा। जैसे वह उन सब को जानता हो, उन्हीं में से एक हो। और जब बातें ख़त्म हो गयीं तो सत्यार्थी उन्हें गीत सुनाने लगा। सिपाही उससे प्रभावित हुए। सत्यार्थी ने कहा, "लय के बिना गीत का मज़ा आधा रह जाता है। फिर भी मुझको इस वक़्त जितने गीत याद आये, मैंने आप को सुना दिये। अब आप लोगों में से जिसको गाना आता हो, वह गा कर सुनाये।"

तमिल सिपाही ने कहा, "मैं गाना जानता हूँ। बोलो, कौन सा गीत सुनोगे?"

"कोड़ी दा कोड़ी दा काद लाली," सत्यार्थी बोला, "मिल कर फँसो, मिल कर फँसो मछलियो!—इस डिब्बे में, जहाँ हर प्रान्त के फ़ौजी जमा हैं, इससे अच्छा और कोई गीत नहीं हो सकता।"

"क्या मतलब?" तमिल सिपाही ने पूछा।

"क्या हम मछलियाँ हैं?" पंजाबी सिपाही चिल्लाया।

"गुस्सा मत करो मेरे दोस्त।" सत्यार्थी ने उसी धैर्य और इत्मीनान से कहा, "हम सब मछलियाँ हैं। तुम बन्दूक़ वाली मछली हो, मैं दाढ़ी वाली मछली हूँ।"

सिपाही हँसने लगे।

"और हम सब मछेरों के जाल में फँसे हुए हैं।" सत्यार्थी ने कहा।

सिपाही फिर गम्भीर हो गये।

ट्रेन तेज़ी से भागी जा रही थी। बाहर चारों ओर गहरा अँधेरा था और उस अँधेरे में इक्का-दुक्का तारे जगमगा रहे थे। सिपाहियों ने हमें सोने के लिए जगह बना दी और कहा, "आप लोग आराम कीजिए। सुबह

हम आपको जगा देंगे।"

अगले दिन जब हम उन साहब के मकान पर पहुँचे, जिन से मुझे मिलना था तो वे घर में नहीं थे। मालूम हुआ कि आज एक स्थानीय मैजिस्ट्रेट के यहाँ उनकी दावत है। वे मैजिस्ट्रेट मुझे भी जानते थे, इसलिए हम लोग सीधे वहीं चले गये।

बातों में सत्यार्थी ने बताया कि वह झूमर नाच की तस्वीर लेना चाहता है।

मैजिस्ट्रेट साहब ने कहा, "आजकल तो किसान फ़सल काट रहे हैं। नाच छोड़ उन्हें दम लेने की भी फ़ुरसत नहीं।"

"फ़िर ?" सत्यार्थी बोला, "मैं तो बड़ी आस ले कर आया था।"

मैजिस्ट्रेट साहब ख़ामोश हो गये। जब हम चलने लगे तो उन्होंने सत्यार्थी को रोक कर कहा, "आप ज़रूर तस्वीर लेना चाहते हैं ?"

"हाँ।" सत्यार्थी ने कहा।

"अच्छा, तो कल दो बजे के क़रीब आप थाने में तशरीफ़ लाइए। मैं बन्दोबस्त कर दूँगा।"

"थाने में ?" सत्यार्थी ने आश्चर्य से मेरी तरफ़ घूरते हुए कहा।

"हाँ-हाँ, हम थाने के कुछ सिपाही भेज कर दस-बीस किसानों को, जो नाचना जानते हों, चौकी पर बुला लेंगे। आप जी भर के तस्वीरें ले लीजिएगा।"

"जी नहीं, आप तकलीफ़ न कीजिए। मैं फिर कभी आ जाऊँगा।" सत्यार्थी बोला, "थानेदार के सामने भला किसान ख़ाक नाचेंगे !"

अगले दिन हम लोग वहाँ से लौट आये। रास्ते भर सत्यार्थी मैजिस्ट्रेट की योजना पर हँसता रहा।

यूनिवर्सिटी के इम्तहानों के बाद मैं लुधियाना आ गया और चार-पाँच महीने तक घर ही पर रहा। इसके बाद अचानक प्रीत नगर के वार्षिक

सम्मेलन में मेरी और उसकी मुलाक़ात हो गयी।

कानफ्रेन्स में कोई आठ-दस हज़ार मर्द-औरतों की भीड़ थी। पंजाब के प्रत्येक भाग से लोग उस अजीब बस्ती को देखने के लिए आये थे, जिसके अहाते में मसजिद, मन्दिर, गुरुद्वारा या गिरजा बनाने की इजाज़त नहीं, जहाँ के निवासी संयुक्त रसोई में खाना खाते हैं और जहाँ की औरतें आज़ादी और बेबाकी के साथ घूमती फिरती हैं।

जब सत्यार्थी पंडाल में दाख़िल हुआ तो भीड़ में से बहुत से पुरुषों ने उठ कर उसके हाथ चूमे और बहुत-सी स्त्रियों ने उसके चरण छुए। सत्यार्थी ने उन्हें आशीर्वाद दिया और उत्सुक तथा श्रद्धा-भरी नज़रों में से होता हुआ मंच के पास जा कर बैठ गया।

कार्यक्रम की पहली चीज़ एक नाटक था, जिसे प्रीतनगर के छात्र और छात्राएँ प्रस्तुत कर रहे थे। नाटक के बाद पहले पंजाबी और फिर उर्दू कवि-सम्मेलन था। सत्यार्थी ने भी एक पंजाबी कविता सुनायी जिसका मतलब कुछ इस प्रकार था :

**हिन्दुस्तान !—हिन्दुस्तान !**
**तेरे हल लहूलुहान हैं।**
**तेरा बदन चीथड़ों में लिपटा हुआ है,**
**तेरी पोरों से ख़ून बह रहा है,**
**—हिन्दुस्तान !**
**सदियों का भूखा-प्यासा उड़ीसा दम तोड़ रहा है।**
**आसाम का बिहू नृत्य सूखे ढाँचों के मरणासन्न कंपन में**
**परिणत हो गया है।**
**बंगाल पर मौत के गिद्ध मँडरा रहे हैं।**
**कालिदास से कहो कि वह 'मेघदूत' उठा कर परे फेंक दे,**
**उदय शंकर से कहो कि वह अजन्ता का नृत्य बन्द कर दे।**
**आज चारों ओर भूख है, मौत है, नग्नता है और दरिद्रता है।**
**महानदी की आँखों से दुख के आँसू बह रहे हैं।**

**और सदियों पुरानी बाँसुरी के गले में गीत सूख गये हैं।**

मंच पर खड़ा वह कोई अलौकिक व्यक्ति दिखायी दे रहा था, जिसका व्यक्तित्व किसी विचारक, संन्यासी और कवि के व्यक्तित्व का सम्मिश्रण लग रहा था। वह अपनी कविता में भारत के विभिन्न प्रदेशों की चर्चा इस अनायासता से कर रहा था कि सुनने वाले अपने-आपको उन प्रदेशों में साँस लेते महसूस करते थे। एक के बाद दूसरे प्रदेश की जनता अपनी विशिष्ट संस्कृति की पृष्ठ-भूमि में, विशिष्ट वस्त्र धारण किये और विशिष्ट भाषा बोलती धीरे-धीरे उनकी आँखों के सामने उभरती और फिर क्षितिज के कोनों में गुम हो जाती। यह सफल चित्रण सत्यार्थी की वर्षों की साधना और भारत भ्रमण का फल था। मुझे लगा कि भारत का कोई कवि, चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, भारत की आत्मा का चित्र प्रस्तुत करने में सत्यार्थी की बराबरी नहीं कर सकता।

पंजाबी कवि-सम्मेलन की समाप्ति पर जब पन्द्रह मिनट का विश्राम दिया गया तो उर्दू 'प्रीत लड़ी' के सहायक सम्पादक शमशेर सिंह 'ख़ंजर' ने मुझे बताया कि उर्दू मुशायरे के सभापति अभी तशरीफ़ नहीं लाये। मैंने कहा, "शाम के वक़्त मैंने डॉक्टर अख़्तर हुसैन रायपुरी को यहाँ देखा था। उनसे कहिए कि वो मुशायरे की सदारत कर दें।" शमशेर सिंह 'ख़ंजर' एक टाँग और एक लकड़ी के सहारे अख़्तर हुसैन रायपुरी को ढूँढने चला गया। सत्यार्थी ने मेरे क़रीब आ कर पूछा, "तुम शमशेर सिंह 'ख़ंजर' को कब से जानते हो?"

"क़रीब एक बरस से!"

"मैं छः बरस से जानता हूँ और उससे एक सवाल करना चाहता हूँ, लेकिन हौसला नहीं होता।" सत्यार्थी ने कहा।

"कौन सा सवाल?" मैंने पूछा।

"मैं उस से पूछना चाहता हूँ कि उसने अपना उपनाम 'ख़ंजर' टाँग टूटने से पहले रखा था या बाद में?"

और फिर वह ओवर कोट की जेबों में हाथ डाल कर ज़ोर-ज़ोर से हँसने

लगा। सामने से एक पंजाबी कवयित्री आ रही थी। सत्यार्थी की हँसी एक दम गम्भीरता में बदल गयी और उसने तत्काल ओवर कोट की जेबों में से हाथ निकाल लिये।

"कहिए, किधर जा रही हैं आप? उर्दू मुशायरा नहीं सुनिएगा।" उसने कवयित्री को सम्बोधित करते हुए कहा।

"ज़रूर सुनूँगी।" कवयित्री ने कहा, "बैठे-बैठे कुछ थक-सी गयी थी, इसलिए इधर चली आयी।"

"हाँ-हाँ, ज़रूर सुनिए! आज मैं भी अपनी एक उर्दू नज़्म सुनाऊँगा। साहिर, तुमने इनकी नज़्म सुनी थी?"

"जी हाँ, बहुत ख़ूबसूरत नज़्म थी।"

"और उसमें रवानी और शिद्दत और गहराई कितनी थी। वाह वा, मैं तो सोचता हूँ कि मुझे शायरी करना छोड़ देना चाहिए।" सत्यार्थी बोला।

"यह आप क्या कह रहे हैं?" कवयित्री कहने लगी, "आप तो इतना अच्छा लिखते हैं।"

"जी हाँ, जी हाँ।" सत्यार्थी बोला, "लेकिन वह बात पैदा नहीं होती।"

इतने में शमशेर सिंह 'ख़ंजर' वापस आ गया। उसने बताया कि अख़्तर हुसैन रायपुरी वापस चले गये हैं और शायरों की तीन टोलियाँ तीन विभिन्न शायरों का नाम सभापतित्व के लिए प्रस्तावित कर रही हैं।

मैंने पूछा, "फिर तुमने क्या फ़ैसला किया?"

"मैं कोई फ़ैसला नहीं कर सका।" वह बोला।

कवयित्री मुस्करायी और पूछने लगी, "आपके यहाँ सदर बनाने तक पर झगड़े होते हैं?"

"कुछ ऐसा ही है।" मैंने कहा।

"क्यों?" उसने पूछा।

मुझे जैसे इस सादगी पर प्यार आ गया। मैंने कहा, "अभी शायरों के सामने अधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य नहीं हैं। हो जायेंगे तो वो इन छोटी-छोटी बातों पर झगड़ना बन्द कर देंगे।"

कवयित्री चुप हो गयी।

मैंने पूछा, "आप क्या हमारी कोई मदद नहीं कर सकतीं?"

"मैं?...मैं क्या मदद कर सकती हूँ?" वह बोली।

"आप हमारे मुशायरे की सदर बनना मंज़ूर कर लीजिए।"

"पर मैं तो पंजाबी ज़बान में लिखती हूँ।"

"यही तो एक अच्छी बात है।" मैंने कहा, "वरना ज़ाहिर है कि एक मुशायरे के तीन सदर नहीं बनाये जा सकते। दो गिरोह हर हालत में नाराज़ होंगे।"

"लेकिन यह भी तो हो सकता है," वह बोली, "कि मेरे सदर बनने से तीनों नाराज़ हो जायें।"

"नहीं, आप लड़की हैं, इसलिए ऐसा नहीं होगा।" शमशेर सिंह 'ख़ंजर' बोला।

कवयित्री कुछ शरमा-सी गयी। वह कुछ कहना चाहती थी, पर कह न सकी। मैंने 'ख़ंजर' से कहा, "आप जा कर स्टेज सेक्रेटरी को इनका नाम सदारत के लिए दे दीजिए।"

ख़ंजर चला गया।

एक मिनट बाद कवयित्री भी चली गयी।

"ओ हरामज़ादे!" सत्यार्थी चीख़ा। और फिर वह भी चला गया।

मुझे उसका एक लेख याद आ गया, जिसमें उसने लिखा था, "वेरीनाग के नीले पानी में थकन से चूर पाँव डाले मैं सोच रहा था कि मैंने अपनी उम्र का बेहतरीन हिस्सा व्यर्थ ही ख़ानाबदोशी की ज़िन्दगी में नष्ट कर दिया। व्यर्थ लोक गीतों की खोज में भटकता रहा, व्यर्थ ही घाट-घाट का पानी पीने को ही आदर्श बनाये ज़िन्दगी बरबाद करता रहा..."

मंच पर खड़ा वह एक अलौकिक व्यक्ति दिखायी दे रहा था, लेकिन मंच से उतरते ही वह एक साधारण मानव बन गया था और उसके सीने में व्यक्तिगत असफलताओं की पीड़ा जाग उठी थी—आयु का श्रेष्ठतम भाग नष्ट हो जाने की पीड़ा!

मुशायरे के दूसरे दिन प्रीत नगर के कुछ वासियों की ओर से उर्दू और पंजाबी के साहित्यकारों को एक संयुक्त पार्टी दी गयी। कवयित्री और सत्यार्थी साथ-साथ बैठे थे। चाय के साथ शायरी का दौर भी चल रहा था। सब शायरों ने एक-एक नज़्म सुनायी। लेकिन जब सत्यार्थी की बारी आयी तो वह ख़ामोश बैठा रहा।

कवयित्री ने कहा, "आप कुछ सुनाइए न।"

"छोड़िए जी," सत्यार्थी बोला, "मेरी नज़्मों में क्या रखा है?" और उसने चाय की प्याली मुँह से लगा ली।

तभी एक कोने से आवाज़ आयी, "घटना...घटना!"

सत्यार्थी से हँसी रोके न रुकी। भक से उसका मुँह खुला और सारी चाय दाढ़ी और कोट पर बिखर गयी। वह मैले ख़ाकी रूमाल से चेहरे पर ओट किये अपनी कुर्सी से उठा और नल पर जा कर मुँह धोने लगा। जब वह मुँह धो कर लौटा तो उसका चेहरा बेहद उदास था। कवयित्री के साथ की कुर्सी ख़ाली छोड़ कर वह एक कोने में दुबक कर बैठ गया। फिर उसने कोई बात नहीं की।

पार्टी ख़त्म होने के बाद मैंने सत्यार्थी से उसकी ख़ामोशी का कारण पूछा तो वह बहुत दुखे हुए दिल के साथ कहने लगा :

"मैं सभ्य लोगों की सोसाइटी में बहुत कम बैठा हूँ। मैंने अपनी सारी उम्र किसानों और ख़ानाबदोशों में बितायी है। और अब, जब मुझे मॉडर्न क़िस्म की महफ़िलों में बैठना पड़ता है तो मैं घबरा जाता हूँ। मैं ज़्यादा-से-ज़्यादा सावधानी बरतने की कोशिश करता हूँ, फिर भी मुझसे ज़रूर कोई-न-कोई ऐसी हरकत हो जाती है जो समाज की नज़र में आम तौर से अच्छी नहीं समझी जाती।"

मुझे सत्यार्थी की इस बात से बहुत दुख हुआ। उसने सचमुच बहुत बड़ी क़ुरबानी दी थी। लोक-गीतों की तलाश में उसने हिन्दुस्तान का कोना-कोना छान मारा था। अनगिनत लोगों के सामने हाथ फैलाया था। बीसियों क़िस्म की बोलियाँ सीखी थीं, किसानों के साथ किसान और ख़ानाबदोशों के

साथ ख़ानाबदोश बन कर अपनी जवानी की उमंगों-भरी रातों का गला घोंट दिया था। लेकिन उसकी सारी कोशिश, सारी मेहनत और सारी क़ुरबानी के बदले में उसे क्या मिला?—एक भूख-भरी ज़िन्दगी और एक अतृप्त हृदय!

प्रीत नगर से वापस आ कर मैंने लाहौर में 'अदबे-लतीफ़' के सम्पादन विभाग में नौकरी कर ली। सत्यार्थी अपना अधिकांश समय मेरे साथ बिताने लगा। हर रोज़ सुबह-सवेरे वह मुझे बिस्तर से उठा देता और रात गये तक मेरे साथ घूमता रहता। कभी-कभी जब उसकी तबीयत लहर पर होती तो वह मुझे पंजाब के देहाती गीत सुनाने लगता:

**केहड़े पिंड मकलावे जाना**
**नी, टाहली दे संदूक वालिए**

(ऐ शीशम के सन्दूक़ वाली! तेरा गौना किस गाँव में होने वाला है?

**अग्ग बाल के धुएँ दे पज्ज रोवाँ**
**ते-भैड़े दुख यारियाँ दे**

(आग जला कर आँखों में धुआँ लग जाने के बहाने रोती हूँ। प्रेम के दुख बहुत बुरे होते हैं।)

गीत सुनाते-सुनाते वह चुप हो जाता और कहता, "चाहे मेरी आर्थिक स्थिति कितनी ही बुरी क्यों न हो, लेकिन मैं महान हूँ।"

"इसमें क्या शक है?" मैं जवाब देता।

वह मेरे कन्धे पर हाथ मार कर हँसने लगता और कहता, "तुम भी महान हो।" और फिर ठहाका मारता, "हम दोनों महान हैं।"

उसने तमाम कॉलेजों और होस्टलों में अपने अड्डे बना रखे थे। हर रोज़ वह किसी-न-किसी होस्टल में चला जाता और बैठा गप्पें हाँकता रहता। विद्यार्थी उससे बड़े चाव और आदर से मिलते। चाय पिलाते, खाना खिलाते और यदि सत्यार्थी राज़ी होता तो उसे अपने साथ सिनेमा

भी ले जाते ।

एक दोपहर जब मैं दफ़्तर में दाख़िल हुआ तो एक ख़ुश-पोश नौजवान पहले से मेरा इन्तज़ार कर रहा था ।

"मैं देवेन्द्र सत्यार्थी हूँ ।" उसने कहा ।

मेरी आँखें आश्चर्य से खुली-की-खुली रह गयीं । दाढ़ी-मूँछ साफ़ और सिर पर कॉलेजियन कट के संक्षिप्त से बाल । यह देवेन्द्र सत्यार्थी को क्या हुआ ?" मैंने सोचा ।

"बैठो ।" उसने मुझे हैरान खड़े देख कर कहा ।

मैं बैठ गया ।

थोड़ी देर हम दोनों ख़ामोश बैठे रहे । फिर मैं उसे अपने साथ पास के एक होटल में ले गया । जब ब्वॉय चाय ले आया तो मैंने पूछा, "तुमने आख़िर यह क्यों किया ?"

"यों ही !" वह बोला ।

"यह तो कोई जवाब न हुआ ।" मैंने कहा, "आख़िर कुछ तो वजह होगी ।"

"वजह ?"...वजह दर-असल यह है, वह बोला, "कि मैं उस रूप से तंग आ गया था । पहले-पहल जब मैं गीत इकट्ठा करने निकला था तो मेरी दाढ़ी नहीं थी । उस वक़्त मुझे गीत इकट्ठे करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था । लोग मुझ पर भरोसा नहीं करते थे । लड़कियाँ मेरे पास बैठते हुए हिचकिचाती थीं । फिर मैंने दाढ़ी और सिर के बाल बढ़ा लिये और बिलकुल संन्यासियों की-सी शक्ल बना ली । इस रूप ने मेरे लिए बहुत सी आसानियाँ पैदा कर दीं । देहाती मेरी इज़्ज़त करने लगे । लड़कियाँ मुझे साधु समझ कर मुझसे कवच माँगने लगीं । मैंने देखा, अब उन्हें मेरे क़रीब आने में झिझक महसूस नहीं होती थी । मैं घंटों बैठा उन से गीत सुनता रहता । अब मुझे भीख भी आसानी से मिल जाती थी और बिना टिकट रेल का सफ़र करने में भी सुविधा हो गयी थी । धीरे-धीरे दाढ़ी और जटाएँ मेरे व्यक्तित्व का अंग बन गयीं ।"

"फिर ?" मैंने पूछा।

"फ़िर मैं शहर में आ गया," वह बोला, "और लिखने को रोज़ी का ज़रिया बना लिया। मैं दूसरे लेखकों क देखता तो उन्हें एक-दूसरे से इन्तहाई बेतकल्लुफ़ पाता। सारे वक़्त वो एक-दूसरे से हँसते-खेलते और मज़ाक़ करते रहते। लेकिन ये ही लोग मुझसे बात करते तो उनके लहजे में तकल्लुफ़ आ जाता। मुझमें और उनमें आदर का एक बनावटी-सा पर्दा खड़ा हो जाता। मुझे यों लगता, जैसे मैं उनके दिलों से बहुत दूर हूँ। आम लोग भी जब मेरे सामने आते तो अदब से बैठ जाते, जैसे वो किसी देवता के सामने बैठे हों—अपने से ऊँची और अलग हस्ती के सामने।"

"फिर ?" मैंने कहा।

"आम मर्दों की निगाह पड़ते ही लड़कियों के चेहरों पर सुर्ख़ी दौड़ जाती, उनके गाल तमतमा उठते। लेकिन जब मैं उनकी तरफ़ देखता तो उनके गालों का रंग वही रहता। वो फ़ैसला न कर सकतीं कि मैं उनकी तरफ़ पिता के प्रेम-भाव से देख रहा हूँ या प्रेमी के ?...मैं उस ज़िन्दगी से तंग आ गया था।" वह बोला, "मैंने फ़ैसला कर लिया कि मैं अपनी इस शक्ल को बदल दूँगा। मैं देवता नहीं हूँ, इन्सान हूँ और मैं इन्सान बन कर रहना चाहता हूँ।"

"फिर ?" मैंने आख़िरी बार पूछा।

"फ़िर ?...फ़िर मैं इस वक़्त तुम्हारे सामने बैठा हूँ। क्या मेरी शक्ल आम इन्सानों की-सी नहीं है ?"

"है और बिलकुल है।" मैंने कहा, "लेकिन एक बात बताओ। हज्जाम ने तुम से क्या चार्ज किया ?"

"पाँच रुपये।" सत्यार्थी ने कहा, "लेकिन तुम यह क्यों पूछ रहे हो ?"

"यों ही !" मैंने कहा।

और फिर हम दोनों मुस्कराने लगे।

कवयित्री ने सुना तो हैरान रह गयी। "मैं सत्यार्थी जी को इस नये रूप

में एक नज़र देखना चाहती हूँ। क्या आप उन्हें यहाँ ला सकेंगे?" उसने मुझ से पूछा।

"मैं कोशिश करूँगा।" मैंने जवाब दिया।

अगले दिन मैंने सत्यार्थी को बताया कि कवयित्री उससे मिलना चाहती है।

"सच?" उसने आँखें फाड़ते हुए पूछा।

"सच!" मैंने कहा।

"तो फ़िर कब चलोगे?"

"कल किसी वक़्त आ जाना। मैं घर पर ही रहूँगा।"

"बहुत अच्छा।" उसने कहा।

अगले दिन सुबह ठीक पौने छः बजे उसने मुझे बिस्तर से उठा दिया।

"तुम रात को सोये भी थे या नहीं?" मैंने पूछा।

"यार, एक बात बताओ।" उसने बड़े भेद-भरे स्वर में कहा, "मैं कवयित्री की तस्वीर लेना चाहता हूँ। क्या वह राज़ी हो जायगी?"

"वहीं तो चल रहे हो। पूछ लेना।"

"मैं कैमरा लेत आया हूँ।" वह बोला।

"बहुत अच्छा किया। दुश्मन के घर निहत्थे नहीं जाना चाहिए।" मैंने कहा।

सत्यार्थी को देखते ही कवयित्री खिल उठी। "अरे! आप तो बिलकुल नौजवान हैं।" वह बोली।

सत्यार्थी कुछ कहना चाहता था। लेकिन तभी कवियत्री का पति कमरे में दाख़िल हो गया।

"आपने इन्हें पहचाना?...ये देवेन्द्र सत्यार्थी हैं।" कवयित्री ने कहा।

कवयित्री के पति ने सत्यार्थी को सिर से पैर तक घूरा फिर उसके पास बैठ कर धीरे-धीरे बातें करने लगा।

सत्यार्थी ने कहा, "मैं आप दोनों की तस्वीर लेना चाहता हूँ।"

"तस्वीर? तस्वीर क्या कीजिएगा?" कवयित्री ने मुस्कराते हुए पूछा।

"अपने एलबम में लगाऊँगा...मैंने सब अदीबों की तस्वीरें ली हैं।"

"आपको शायद मालूम नहीं, "कवयित्री ने अपने पति से कहा, "सत्यार्थी जी बहुत अच्छे फ़ोटोग्राफ़र हैं।"

"मैं बहुत अच्छा कहानीकार और कवि भी हूँ।" सत्यार्थी ने कहा।

कवयित्री झेंप गयी।

"तो फ़िर बताइए," सत्यार्थी ने कहा, "मैंने सब अदीबों की तस्वीरें ली हैं।"

"आप इन से सीधे पूछिए।" कवयित्री के पति ने मुस्कराते हुए कहा, "मुझे तो आप जानते हैं, अदब से कोई सरोकार नहीं।"

"अदब से न सही, अदब लिखने वाली से तो है।" सत्यार्थी ने कहा, "आपकी इजाज़त के बिना मैं तस्वीर कैसे ले सकता हूँ?"

"मैंने इन्हें हर बात की इजाज़त दे रखी है।" कवयित्री के पति ने कहा।

"तो फ़िर आप दोनों चलिए।"

"कहाँ?" कवयित्री ने पूछा।

"छत पर।" सत्यार्थी ने कहा, "वहाँ लाइट मिल सकेगी।"

सब लोग छत पर चले गये। सत्यार्थी कोई दो घंटे तक कवयित्री और उसके पति की तस्वीरें उतारता रहा। तीन तस्वीरें उसने कवयित्री की उसके पति के साथ लीं और सात अलग। बाहर निकल कर वह बोला, "मैंने तीनों तस्वीरों में कवयित्री के पति को उससे ज़रा फ़ासिले पर खड़ा किया है ताकि कवयित्री की तस्वीर का अलग प्रिन्ट निकालने में आसानी रहे।"

इसी तरह एक महीना बीत गया। हर दूसरे-तीसरे दिन सत्यार्थी कवयित्री की तस्वीर का इनलार्जमेंट बना लाता और मुझसे कहता, "चलो, यह इनलार्जमेंट उसे दे आयें।"

एक दिन सत्यार्थी ने कवयित्री से कहा, "मैं आपकी कुछ और तस्वीरें लेना चाहता हूँ।"

"और तस्वीरें क्या कीजिएगा?" कवयित्री ने मुस्कराते हुए कहा, "उस

दिन इतनी बहुत-सी तस्वीरें तो आप ले चुके हैं।"

"आप मुझे कोई ऐसा वक़्त दीजिए, जब आपके पति घर पर न हों।"

"वह किस लिए?"

"दर असल बात यह है..." सत्यार्थी ने कहा और फिर वह लायलपुर के मैजिस्ट्रेट और किसानों का क़िस्सा सुनाने लगा।

"तो माफ़ कीजिए," उसने पूरा क़िस्सा सुनाने के बाद कहा, "आप के पति के सामने आपका फ़ोटो लेना भी बिलकुल ऐसा ही है, जैसा थानेदार के सामने किसान नचवाना।"

कवयित्री का पति दूसरे कमरे में सारी बातें सुन रहा था। वह सत्यार्थी पर बहुत ख़फ़ा हुआ। साथ-ही-साथ कवयित्री पर भी बिगड़ा।

अगले दिन कवयित्री ने मुझे दफ़्तर में एक चिट्ठी भेज कर बुलाया और कहा, "आप जानते हैं, मेरी ज़िन्दगी बड़ी मजबूर क़िस्म की ज़िन्दगी है। सत्यार्थी जी ने उस दिन कुछ ऐसी बातें कह दीं, जिस पर वे सख़्त नाराज़ हैं। आप सत्यार्थी जी से कह दीजिए कि मेरी तस्वीरों के जो निगेटिव उनके पास हैं, वे किसी के हाथ मेरे पति को वापस भिजवा दें।"

"बहुत अच्छा।" मैंने कहा।

सत्यार्थी ने निगेटिव वापस कर दिये। कवयित्री के पति ने कहा, "आप इनकी क़ीमत ले लीजिए।"

सत्यार्थी की आँखों में जैसे ख़ून उतर आया।

"मैं बहुत ग़रीब हूँ, यह सही है। लेकिन मैंने अभी तक फ़ोटोग्राफ़ी को रोज़ी का साधन नहीं बनाया। जब बना लूँगा तो आप को ख़बर दे दूँगा।"

और वह अपनी जगह से उठ खड़ा हुआ।

फिर दो-तीन महीने तक मैंने उसकी सूरत नहीं देखी। इसी बीच मुझे बम्बई की एक फ़िल्म कम्पनी में नौकरी मिल गयी। मैं सत्यार्थी से मिलने उसके घर गया।

वह टेबल लैम्प की हल्की रोशनी में अपने छोटे-से कमरे में मेज़ पर

झुका हुआ कुछ लिख रहा था। क़दमों की चाप सुन कर उसने दरवाज़े की तरफ़ घूम कर देखा।

"हैलो साहिर!"

मैं अन्दर चला गया।

सत्यार्थी ने दाढ़ी और सिर के बाल फिर से बढ़ा लिये थे।

"मैं कल शामकी गाड़ी से जा रहा हूँ।" मैंने कहा।

"क्यों?"

"मुझे एक फ़िल्म कम्पनी में नौकरी मिल गयी है।"

"अच्छा!" उसने कहा, "तब तो आज तुमसे लम्बी-चौड़ी बातें होनी चाहिएँ।" उसने फ़ाउन्टेन पेन बन्द करके मेज़ पर रख दिया।

इतने में सत्यार्थी की पत्नी अन्दर आ गयी। सूरत-शक्ल से वह उन्तीस-तीस बरस की लगती थी। मैंने हाथ जोड़ कर नमस्ते की।

"नमस्ते!" वह बोली।

सत्यार्थी ने मेरी तरफ़ इशारा करते हुए कहा, "ये आज यहीं रहेंगे और खाना भी यहीं खायेंगे।"

वह जा कर खाना ले आयी। सत्यार्थी की नौ वर्षीया बच्ची कविता भी आ गयी। हम सब खाना खाने लगे। सत्यार्थी की बीवी हमारे क़रीब बैठी पंखे से हवा करती रही।

"खाना ठीक है?" उसने पूछा।

"सिर्फ़ ठीक ही नहीं, बेहद मज़ेदार है।" मैंने कहा।

"हम लोग बहुत ग़रीब हैं।" वह बोली।

अचानक मुझे अपने सूट का ख़याल आ गया।

"मेरे पास यही एक सूट है," मैंने कहा, "और यह भी मेरे मामा ने बनवा कर दिया है।"

वह हँसने लगी—एक निहायत बेझिझक और पवित्र हँसी। और जब वह खाने के जूठे बर्तन उठा कर चली गयी तो सत्यार्थी ने मुझसे कहा, "इस औरत ने मेरे साथ अनगिनत दुख झेले हैं। हिन्दुस्तान का कोई

सूबा ऐसा नहीं, जहाँ यह मुझ भिखारी के साथ भिखारिन बन कर मारी-मारी न फिरी हो। अगर यह मेरा साथ न देती तो शायद मैं अपने उद्देश्य में सफल न हो सकता।"

"तुम्हारी ज़िन्दगी क़ाबिले-रश्क है।" मैंने कहा।

"ज़िन्दगी !....शायद ज़िन्दगी से तुम्हारा मतलब बीवी है। मेरी बीवी वाक़ई क़ाबिले-रश्क है, हालाँकि कई बार इसकी मामूली शक्ल-सूरत से मैं बेज़ार भी हो गया हूँ।"

मैं दीवार पर लगी हुई तस्वीरों की तरफ़ देखने लगा। लेनिन... टैगोर...इक़बाल...

"इन तीनों की शक्ल-सूरत के बारे में तुम्हारा क्या ख़याल है ?" मैंने मुस्कराते हुए पूछा।

"इन तीनों का मेरी ज़िन्दगी पर गहरा असर है।" सत्यार्थी बोला और फिर न जाने किन यादों में खो गया।

"जब मैं बिलकुल नौ-उम्र था," थोड़ी देर बाद उसने कहा, "तो मैंने आत्म-हत्या करने का इरादा किया था। कुछ दोस्तों को पता चल गया। वो मुझे पकड़ कर डॉक्टर इक़बाल के पास ले गये। इक़बाल बहुत देर तक मुझे समझाते रहे।...उनकी बातों ने मुझ पर बहुत गहरा असर किया और मैंने अत्म-हत्या का ख़याल छोड़ दिया।...फिर मैंने लेनिन को पढ़ा और मेरे दिल में गाँव-गाँव घूम कर देहाती गीत इकट्ठा करने का ख़याल पैदा हुआ। टैगोर ने मेरे इस ख़याल को सराहा और मेरा हौसला बढ़ाया। मैं गीत जमा करता रहा और अब, जब ये तीनों मर चुके हैं तो रातों की ख़ामोश तनहाई में उन गीतों को उर्दू, हिन्दी या अंग्रेज़ी में ढालते समय कभी-कभी मुझे ऐसा लगता है, जैसे किसान औरतें और मर्द मेरे गिर्द घेरा बनाये खड़े हों और कह रहे हों, 'संन्यासी ! हमने तुम्हें अपना समझा था, तुम पर भरोसा किया था। तुम हमारी सदियों की पूँजी को हम से छीन कर शहरों में बेच दोगे, यह हमें भूल कर भी शक न हुआ था। लेकिन तुम हममें से नहीं थे। तुम शहर से आये थे और शहर को लौट गये।

अब तुम उन गीतों को, जो हमारे दुख-सुख के साथी थे, जिन पर अब तक किसी व्यक्ति के नाम की मुहर नहीं लग ी, अपने नाम की छाप के साथ बाज़ार में बेच रहे हो और अपना और अपने बीवी-बच्चों का पेट पाल रहे हो। तुम बहुरुपिये हो, फ़रेबी, धोखेबाज़!' और फिर वे जलती हुई आँखों से मुझे घूरने लगते हैं।"

"यह तुम्हारी भावुकता है।" मैंने कहा, "तुमने इन गीतों को गाँव के सीमित वातावरण से निकाल कर असीम कर दिया है। तुमने एक मरती हुई संस्कृति की गोद में महकने वाले फूलों को पतझड़ के पंजों से बचा कर उनकी महक को अमर बना दिया है। यह तुम्हारा कारनामा है। आज़ाद और समाजवादी भारत में जब शिक्षा आम हो जायगी और औद्योगिक जीवन शबाब पर आयेगा तो यही किसान, जो आज तुम्हारी कल्पना में तुम्हें जलती हुई आँखों से घूरते हैं, तुम्हें मुहब्बत और प्यार से देख कर मुस्करायेंगे, उनके बच्चे तुम्हें आदर और श्रद्धा के भाव से याद करेंगे और अवकाश के क्षणों में तुम्हारे इन लेखों और कहानियों को पढ़ेंगे, जिनमें तुमने उनके पूर्वजों के दिल की धड़कनें समो दी हैं और एक बार फिर वो उस संस्कृति को देख सकेंगे, जो उस वक़्त ख़त्म हो चुकी होगी।"

वह मुस्कराने लगा।

अगले दिन मैं लाहौर से चला आया और बम्बई में फ़िल्मी गीत लिखने लगा। थोड़े दिनों के बाद मैंने सुना कि सत्यार्थी ने लाहौर छोड़ दिया है और दिल्ली के किसी सरकारी पत्र के सम्पादन विभाग में नौकरी कर ली है। मुझे विश्वास है कि अब सत्यार्थी का लिबास पहले की तरह मैला-कुचैला नहीं होता होगा। उसके जूते भी अब लाहौर के प्रसिद्ध प्रकाशक के जूतों की तरह क़ीमती और चमकीले होंगे। नन्हीं-मुन्नी कविता अब बड़ी हो गयी होगी और ताँगे में स्कूल जाती होगी। लेकिन किसान?...

शायद अब भी सत्यार्थी उनके बारे में सोचता हो।

## सआदत हसन मंटो

●●●

### आग़ा हश्र कश्मीरी

तारीख़ें और सन् मुझे कभी याद नहीं रहे, यही कारण है कि यह संस्मरण लिखते वक़्त मुझे काफ़ी उलझन हो रही है। ख़ुदा मालूम कौन-सा सन् था और मेरी उम्र क्या थी। लेकिन सिर्फ़ इतना याद है कि बड़ी मुश्किल से एन्ट्रेन्स पास करके और दो बार एफ़० ए० में फ़ेल होने के बाद मेरी तबियत पढ़ाई से बिलकुल उचाट हो चुकी थी और जुए से मेरी दिलचस्पी दिन-ब-दिन बढ़ रही थी। कटरा जैमल सिंह में दीनू या फ़ज़्लू कुम्हार की दुकान के ऊपर एक बैठक थी, जहाँ दिन-रात जुआ होता था। फ़्लाश खेली जाती थी। शुरू-शुरू में तो यह खेल मेरी समझ में न आया। लेकिन जब आ गया तो फिर मैं उसी का हो रहा। रात को जो थोड़ी-बहुत सोने की मुहलत मिलती थी, उसमें भी राउँडों और ट्रेलों के ही सपने दिखायी देते थे।

एक बरस के बाद जुए से मुझे कुछ उकताहट होने लगी। तबियत अब कोई और शग़्ल चाहती थी। क्या ?—यह मुझे मालूम नहीं था। दीनू या फ़ज़्लू कुम्हार की बैठक में एक दिन इब्राहीम ने, जो कि अमृतसर म्युनिसिपल्टी

में ताँगों का दरोग़ा था, आग़ा हश्र का ज़िक्र किया और बताया कि वो अमृतसर आये हुए हैं। मैंने यह सुना तो मुझे स्कूल के वो दिन याद आ गये, जब तीन-चार पेशावर लफ़ंगों के साथ मिल कर हमने एक ड्रामेटिक क्लब खोला था और आग़ा हश्र का एक नाटक स्टेज करने का इरादा किया था। यह क्लब सिर्फ़ पन्द्रह-बीस दिन क़ायम रह सका था, इसलिए कि अब्बा जान ने एक दिन धावा बोल कर हारमोनियम और तबले सब तोड़-फोड़ दिये थे और साफ़ शब्दों में हमको बता दिया था कि ऐसे वाहियात शौक़ उन्हें बिलकुल पसन्द नहीं।

उस क्लब की याद अब केवल आग़ा हश्र के उस ड्रामे के चन्द शब्द हैं, जो मेरे दिमाग़ के साथ अभी तक चिपके हुए हैं।—"अर्थात् उसके कर्म हैं।"...मेरा ख़याल है, जब दारोग़ा इब्राहीम ने आग़ा हश्र का ज़िक्र किया तो मुझे उस वक़्त नाटक का पूरा एक पैरा याद था। इसलिए मुझे इस ख़बर से एक हद तक दिलचस्पी पैदा हो गयी कि आग़ा हश्र अमृतसर में हैं।

आग़ा साहब का कोई नाटक देखने का मुझे सुअवसर न मिला था, इसलिए कि रात को मुझे घर से बाहर रहने की बिलकुल इजाज़त नहीं थी। उनके नाटक भी मैंने नहीं पढ़े थे, इसलिए कि मुझे 'मिस्ट्रीज़ आफ़ कोर्ट आफ़ लन्दन' और तीरथ राम फ़ीरोज़पुरी के अनूदित अंगरेज़ी जासूसी उपन्यास पढ़ने का शौक़ था। लेकिन इसके बावजूद अमृतसर में आग़ा साहब के आने की ख़बर ने मुझे काफ़ी प्रभावित किया।

आग़ा साहब के बारे में अनगिनत बातें मशहूर थीं। एक तो यह कि वो कूचा वकीलाँ में रहा करते थे, जो हमारी गली थी और जिसमें हमारा मकान था। आग़ा साहब बहुत बड़े आदमी थे। कश्मीरी थे—यानी मेरी ही जाति के—और फिर मेरी गली में वो कभी अपने बचपन के दिन बिता चुके थे। इन तमाम बातों का जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव मुझ पर हुआ, आप उसका अच्छी तरह अनुमान कर सकते हैं।

दारोग़ा इब्राहीम से जब मैंने आग़ा साहब के बारे में कुछ और पछा तो

उसने वही बातें बतायीं, जो मैं औरों से हज़ारों बार सुन चुका था।...

...वो परले दर्जे के ऐय्याश हैं। दिन-रात शराब के नशे में धुत्त रहते हैं। बेहद गाली बकते हैं। ऐसी-ऐसी गालियाँ ईजाद करते हैं कि गालियों में जिनकी कोई मिसाल नहीं मिलती।...

...बड़े-से-बड़े आदमी को भी ख़ातिर में नहीं लाते।

...कम्पनी के अमुक सेठ ने जब उनसे एक बार नाटक का तक़ाज़ा किया तो उन्होंने उसको इतनी मोटी गाली दी, जो हमेशा के लिए उसके दिल में नफ़रत पैदा करने के लिए काफ़ी थी। लेकिन हैरत है कि सेठ ने उफ़ तक न की और हाथ जोड़ कर कहने लगा, "आग़ा साहब, हम आपके नौकर हैं।"

...आशु कवि हैं—एक बार रिहर्सल हो रही थी। गर्मी के कारण एक ऐक्ट्रेस बार-बार उँगली के साथ पसीना पोंछ रही थी। आग़ा साहब झुँझलाये और एक शेर मौज़ूँ हो गया।

**अबरू न सँवारा करो कट जायेगी उँगली,**
**नादान हो तलवार से खेला नहीं करते।**

...रिहर्सल हो रही थी। 'फ़ंड' शब्द एक ऐक्ट्रेस की ज़बान पर नहीं चढ़ता था। आग़ा साहब ने गरज कर 'फ़ंड' की तुक का एक शब्द लुढ़का दिया—ऐक्ट्रेस की ज़बान पर झट 'फ़ंड' चढ़ गया।

...आग़ा साहब के कान तक यह बात पहुँची कि जलने वाले यह प्रचार कर रहे हैं कि हिन्दी के नाटक उनके अपने लिखे हुए नहीं हैं, क्योंकि वो हिन्दी भाषा से बिलकुल अनभिज्ञ हैं। आग़ा साहब स्टेज पर नाटक शुरू होने से पहले आये और दर्शकों से कहा, "मेरे बारे में कुछ शरारती लोग यह बात फैला रहे हैं कि मैंने अपने हिन्दी के नाटक किराये के पंडितों से लिखवाये हैं...मैं अब आपके सामने शुद्ध हिन्दी में भाषण दूँगा।" और फिर आग़ा साहब दो घंटे तक हिन्दी में भाषण देते रहे, जिसमें एक शब्द भी उर्दू या फ़ारसी का नहीं था।

...आग़ा साहब जिस ऐक्ट्रेस की तरफ़ निगाह उठाते थे, वह फ़ौरन ही

उनके साथ एकान्त में चली जाती थी।

...आग़ा साहब मुंशियों को हुक्म देते थे—"तैयार हो जाओ।" और शराब पी कर टहलते-टहलते एक साथ कॉमेडी और ट्रेजिडी लिखवाना शुरू कर देते थे।

...आग़ा साहब ने कभी किसी औरत से इश्क़ नहीं किया।...

लेकिन मुझे दारोग़ा इब्राहीम से मालूम हुआ कि यह आख़िरी बात झूठ है। क्योंकि वह अमृतसर की मशहूर तवायफ़ मुख़्तार पर आशिक़ हैं। वही मुख़्तार, जिसने 'औरत का प्यार' फ़िल्म में हीरोइन का पार्ट किया है।

मुख़्तार को मैं देख चुका था। हाल बाज़ार में अनवर पेन्टर की दुकान पर बैठ कर हम लगभग हर बृहस्पति की शाम को मुख़्तार उर्फ़ दारी को नये-से-नये फ़ैशन के कपड़े पहने दूसरी तवायफ़ों के साथ 'ज़ाहिरा पीर' की दरगाह को जाते देखा करते थे।

आग़ा साहब शक्ल-सूरत के कैसे थे, यह मुझे मालूम नहीं था। कुछ छपी हुई तस्वीरें देखने में आयी थीं। मगर उनकी छपाई इतनी वाहियात थी कि सूरत पहचानी ही नहीं जाती थी। उम्र के बारे में सिर्फ़ इतना मालूम था कि वो अब बूढ़े हो चुके हैं।...उस ज़माने में, यानी उम्र के आख़िरी हिस्से में उनको मुख़्तार से कैसे इश्क़ हुआ, इस पर हम सब को, जो दीनू या फ़ज़्लू कुम्हार की बैठक में जुआ खेल रहे थे, सख़्त ताज्जुब हुआ था।... मुझे याद है, नाल के पैसे निकालते हुए दीनू या फ़ज़्लू कुम्हार ने गर्दन हिला कर बड़े दार्शनिक भाव से कहा था—'बुढ़ापे का इश्क़ बड़ा क़ातिल होता है।'

एक बार आग़ा साहब का ज़िक्र बैठक पर हुआ तो फिर लगभग हर रोज़ उनकी बातें होने लगीं। हम में से सिर्फ़ दारोग़ा इब्राहीम आग़ा साहब को व्यक्तिगत रूप से जानता था। एक दिन उसने कहा—"कल रात हम मुख़्तार के कोठे पर थे...आग़ा साहब गाव तकिये का सहारा लिये बैठे थे। हम में से बारी-बारी हर एक ने उनसे ज़ोरदार दरख़्वास्त की कि वो अपने नये फ़िल्मी नाटक 'रुस्तम-ो-सोहराब' का कोई हिस्सा सुनायें। मगर उन्होंने

इनकार कर दिया। हम सब निराश हो गये। एक ने मुख़्तार की तरफ़ इशारा किया। वह आग़ा साहब की बग़ल में बैठ गयी और उनसे कहने लगी, 'आग़ा साहब हमारा हुक्म है कि आप 'रुस्तम-ो-सोहराब' सुनायें!' आग़ा साहब मुस्कराये और बैठ कर रुस्तम का ज़ोरदार डायलाग बोलना शुरू कर दिया। अल्लाह अल्लाह, क्या गरजदार आवाज़ थी! मालूम होता था कि पानी का तेज़ धारा पहाड़ के पत्थरों को बहाये लिये चला जा रहा है।"

एक दिन इब्राहीम ने बताया कि आग़ा साहब ने पीना एकदम छोड़ दिया है। जो लोग उनके बारे में ज़्यादा जानते थे, उन्हें बड़ी हैरत हुई। इब्राहीम ने कहा कि यह फ़ैसला उन्होंने हाल ही में मुख़्तार से इश्क़ होने के कारण किया है। यह इश्क़ भी क्या बला थी। हम समझ न सके, लेकिन दीनू या फ़ज़्लू ने नाल के कुल पैसे अपने तहमद के डब में बाँधते हुए एक बार फिर कहा, 'बुढ़ापे के इश्क़ से ख़ुदा बचाये...बड़ी ज़ालिम चीज़ होती है।'

जुए से तबीयत उकता ही चुकी थी। मैंने बैठक जाना आहिस्ता-आहिस्ता छोड़ दिया। इस बीच मेरी मुलाक़ात बारी साहब और हाजी लक़लक़ से हुई, जो दैनिक 'मसावात' के सम्पादक हो कर अमृतसर आये हुए थे। जीजे के होटल 'शीराज़' में दोनों चाय पीने आते थे और साहित्य और राजनीति पर बातें करते थे। उनसे मेरी मुलाक़ात हुई तो बारी साहब को मैंने बहुत पसन्द किया। इसी बीच जीजे ने अख़्तर शीरानी मरहूम को दावत दी। दिन-रात ठर्रे के दौर चलने लगे। शेर-ो-अदब से मेरी दिलचस्पी बढ़ने लगी। जो वक़्त पहले फ़्लाश खेलने में कटता था, अब 'मसावात' के दफ़्तर में कटने लगा। कभी-कभी बारी साहब एक-आध ख़बर अनुवाद करने के लिए मुझे दे देते, जो मैं टूटी-फूटी उर्दू में कर दिया करता था। आहिस्ता-आहिस्ता मैंने फ़िल्मी ख़बरों का एक कालम सम्हाल लिया। कुछ दोस्तों ने कहा कि महज़ ख़ुराफ़ात होती है। लेकिन बारी साहब ने कहा, 'बकवास

करते हैं। तुम अब तबा'ज़ाद ( मौलिक ) मज़मून लिखने शुरू करो।'

मौलिक लेख तो मुझसे लिखे न गये, लेकिन फ़्रान्सीसी उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो की एक किताब 'लास्ट डेज़ आफ़ कन्डेम्ड' मेरी अलमारी में पड़ी थी। बारी साहब उठा कर ले गये। दूसरे दिन दोपहर के क़रीब मैं 'मसावात' के दफ़्तर में गया तो कातिबों से मालूम हुआ कि बारी साहब को सरसाम हो गया है। एक किताब सुबह से ऊँची आवाज़ में पढ़ रहे हैं। थोड़ी-थोड़ी देर के बाद यहाँ आते हैं और एक लोटा ठंडे पानी का सिर पर डलवा कर अपने कमरे में चले जाते हैं। मैं उधर गया तो दरवाज़े बन्द थे और वो वक्ताओं के अन्दाज़ में अंग्रेज़ी की कोई बहुत ज़ोरदार इबारत पढ़ रहे थे। मैंने दस्तक दी। दरवाज़ा खुला। बारी साहब बिना कुर्ते-पाजामे के केवल अडरवेयर पहने बाहर आये। हाथ में विक्टर ह्यूगो की किताब थी। उसे मेरी तरफ़ बढ़ा कर अंग्रेज़ी में कहा, 'इट इज़ वेरी हॉट बुक।' और जब किताब पढ़ने की गर्मी दूर हुई तो मुझे सलाह दी कि मैं उसका अनुवाद करूँ।

मैंने किताब पढ़ी। लिखने का अन्दाज़ बहुत ही प्रभावशाली और भाषणदाताओं का-सा था। शराब पी कर अनुवाद करने की कोशिश की। पर नज़रों के सामने लाइनें गडमड हो गयीं। सहन में पलंग बिछवा कर हुक़्क़े की नय मुँह में ले कर अपनी बहन को अनुवाद लिखवाने की कोशिश की। मगर उसमें भी नाकाम रहा। आख़िर में अकेले बैठ कर दस-पन्द्रह दिनों के अन्दर-अन्दर शब्दकोश सामने रख कर सारी किताब का अनुवाद कर डाला। बारी साहब ने बहुत पसन्द किया। उसका सुधार किया और यासूब हसन मालिक 'उर्दू बुक स्टाल' लाहौर के पास तीस रुपये में बिकवा दिया। यासूब हसन ने उसे बहुत ही थोड़े समय में छाप कर प्रकाशित कर दिया। अब मैं 'साहबे-किताब' था।

'मसावात' बन्द हो गया। बारी साहब लाहौर किसी अख़बार में चले गये। जीजे का होटल सूना हो गया। मेरे लिए कोई काम न रहा। लिखने की चाट पड़ गयी थी, लेकिन चूँकि दोस्तों से दाद न मिलती थी, इसलिए उधर कोई ध्यान न दिया। अब फिर दीनू या फ़ज़्लू कुम्हार की बैठक थी।

जुआ खेलता था, मगर उसमें अब वह पहला-सा मज़ा और पहली-सी गर्मी नहीं थी।

एक दिन फिर दारोग़ा इब्राहीम ने फ़्लाश खेलने के दौरान में बताया कि आग़ा हश्र आये हुए हैं और मुख़्तार के यहाँ ठहरे हुए हैं। मैंने उससे कहा कि किसी दिन मुझे वहाँ ले चलो। इब्राहीम ने वायदा तो कर लिया मगर पूरा न किया। जब मैंने तक़ाज़ा किया तो उसने यह कह कर टर्ख़ा दिया कि आग़ा साहब लाहौर चले गये हैं।

मेरा एक दोस्त था हरि सिंह। अल्लाह बख़्शे, ख़ूब आदमी था। पाँच मकान बेच कर दो बार सारे यूरोप की सैर कर चुका था और इन दिनों छठे और आख़िरी मकान को आहिस्ता-आहिस्ता बड़े सलीक़े के साथ खा रहा था। फ़्रांस में सिर्फ़ छै महीने रहा था। लेकिन फ़्रांसीसी ज़बान बड़ी बे-तकल्लुफ़ी से बोल लेता था। बहुत ही दुबला-पतला, मरियल-सा इन्सान था, मगर ग़ज़ब का फ़ुर्तीला, चर्ब ज़बान और घाँसू, यानी बर्मे की तरह अन्दर धँस जाने वाला। एक दिन मैंने उससे आग़ा हश्र का ज़िक्र किया। उसने तुरन्त ही पूछा, "क्या तुम उससे मिलना चाहते हो?"

मैंने कहा, "बहुत देर से मेरी ख़्वाहिश है कि उनको एक नज़र देखूँ।"

हरि सिंह झट बोला, "इसमें क्या मुश्किल है। जब से वह यहाँ, अमृतसर में पंडित मोहसिन के घर ठहरा हुआ है, क़रीब-क़रीब हर रोज़ मेरी उससे मुलाक़ात होती है।"

मैं उछल पड़ा, "तो कल शाम को तुम मुझे उनके पास ले चलो।"

हरि ने अपना ह्विस्की का गिलास अपने पतले होंठों से लगाया और बड़ी नज़ाकत से एक छोटा-सा घूँट भर के फ़्रांसीसी ज़बान में कुछ कहा, जिसका मतलब था—'ज़रूर-ज़रूर मेरे दोस्त!'

और हरि सिंह दूसरे दिन शाम को मुझे आग़ा हश्र काश्मीरी के पास ले गया।

पंडित मोहसिन, जैसा कि नाम से प्रकट है, कश्मीरी पंडित थे। नाम

उनका जाने क्या था। मोहसिन तख़ल्लुस (उपनाम) था। मुशायरों में पुरानी दक़ियानूसी शायरी के नमूने के तौर पर पेश हुए थे। आपका कारोबारी सम्बन्ध कटरा घुन्नियाँ के अमृत सिनेमा से था।

आग़ा साहब से पंडित जी की दोस्ती, पता नहीं शायरी के कारण थी, या सिनेमा के कारण या कटरा घुन्नियाँ इसका कारण था, जिसमें अमृत सिनेमा और मुख़्तार का कोठा बिलकुल आमने-सामने थे। कारण कुछ भी हो, आग़ा साहब पंडित मोहसिन के यहाँ ठहरे हुए थे और जैसा कि मुझे उन दोनों की बातचीत से पता चला, दोनों में काफ़ी बेतकल्लुफ़ी थी।

पंडित मोहसिन की बैठक या दफ़्तर, कटरा घुन्नियाँ के पास पशम वाले बाज़ार से निकल कर आगे जहाँ सब्ज़ी की दुकानें शुरू होती हैं, एक बड़ी-सी ड्योढ़ी के ऊपर था। हरि सिंह आगे था, मैं उसके पीछे। सीढ़ियाँ चढ़ते वक़्त मेरा दिल धक-धक करने लगा। मैं आग़ा हश्र को देखने वाला था।

बाहर आँगन में कुर्सियों पर कुछ आदमी बैठे थे। एक कोने में तख़्त पर पंडित मोहसिन बैठे गुड़गुड़ी पी रहे थे। सब से पहले एक अजीब-ग़रीब आदमी मेरी आँखों से टकराया। चीख़ते हुए लाल रंग की चमकदार साटन का लाचा, दो घोड़ा बोस्की की कालर वाली सफ़ेद क़मीज़, कमर पर गहरे नीले रंग का फुंदनों वाला इज़ार बन्द, बड़ी-बड़ी बेहंगम आँखें—मैंने सोचा कटरा घुन्नियाँ का कोई पीर होगा। लेकिन तभी किसी ने उसको 'आग़ा साहब' कह कर सम्बोधित किया। मुझे धक्का-सा लगा।

हरि सिंह ने बढ़ कर उस अजीब-ग़रीब आदमी से हाथ मिलाया और मेरी तरफ़ इशारा करके कहा, "मेरे दोस्त सआदत हसन मंटो—आप से मिलने के बहुत मुशताक़ (इच्छुक) थे।"

आग़ा साहब ने बड़ी बेहंगम आँखें मेरी ओर घुमायीं और मुस्करा कर कहा, "लार्ड मिंटो से क्या रिश्ता है तुम्हारा?"

मैं तो जवाब न दे सका, लेकिन हरि सिंह ने कहा, "आप मिन्टो नहीं, मंटो हैं।"

आग़ा साहब ने एक लम्बी 'ओह!' की और पंडित मोहसिन से

कश्मीरियों की 'अल्ल' के बारे में बात-चीत शुरू कर दी। मैं पास ही बेंच पर बैठ गया। पंडित जी को आग़ा साहब की इस बात-चीत से ज़रा भी दिलचस्पी नहीं थी, क्योंकि वो बार-बार उन से कहते थे, "आग़ा साहब, इसको छोड़िए। यह बताइए कि आप कब मेरे लिए दो रील का कॉमेडी ड्रामा लिखेंगे?"

आग़ा साहब को कॉमेडी से कोई दिलचस्पी नहीं थी। वो बात तो कश्मीरियों की 'अल्ल' के बारे में कर रहे थे; पर ऐसा मालूम होता था कि दिमाग़ कुछ और ही सोच रहा है। एक-दो बार उन्होंने बातों के बीच अपने नौकर को मोटी-मोटी गालियाँ दे कर याद किया कि वह अभी तक आया क्यों नहीं।

आग़ा साहब जब चुप हुए तो पंडित मोहसिन ने उनसे कहा, "आग़ा साहब, इस वक़्त आपकी तबियत मौज़ूँ है। मैं काग़ज़ क़लम लाता हूँ। आप वह कॉमेडी लिखवाना शुरू कर दीजिए।"

आग़ा साहब की एक आँख भैंगी थी। उन्होंने उसे घुमा कर कुछ अजीब अन्दाज़ से पंडित जी की तरफ़ देखा। "अबे चुप रह। आग़ा हश्र की तबियत हर वक़्त मौज़ूँ होती है।"

पंडित जी ख़ामोश हो गये और अपनी गुड़गुड़ी गुड़गुड़ाने लगे। अचानक मुझे महसूस हुआ कि मेरा सिर चकरा रहा है। तेज़ ख़ुशबू के भबके आ रहे थे। मैंने देखा, आग़ा साहब के दोनों कानों में इत्र के फाहे ठुँसे हुए हैं और शायद सिर भी इत्र से चुपड़ा हुआ है। मैं कुछ तो उस तेज़ ख़ुशबू और कुछ आग़ा साहब के लाचे और इज़ार बन्द के भड़कीले रंगों में क़रीब-क़रीब डूब चुका था।

बाज़ार में अचानक शोर-गुल हुआ। एक साहब ने उठ कर बाहर झाँका और आग़ा साहब से कहा, "आग़ा साहब, तशरीफ़ लाइए। मेंहदी [१]

---

**१. पैग़म्बर मुहम्मद साहब के नाती हज़रत इमाम हुसैन जब करबला के मैदान में दुश्मनों से घिर गये और उन्हें हार का विश्वास हो गया तो उन्होंने यह सोच कर कि लड़की कुँआरी होगी तो दुश्मन जाने क्या व्यवहार करें, वहीं**

का जुलूस आ रहा है।"

आग़ा साहब ने कहा, "बकवास है।" और करबला की घटनाओं पर बहुत ही अन्वेषणात्मक भाषण देना शुरू कर दिया। ऐसे-ऐसे नुक्ते निकाले कि सब दंग रह गये। आख़िर में बड़े नाटकीय ढंग से कहा, "दजला का मुँह बन्द था, फ़रात सूखी पड़ी थी। पीने को पानी की एक बूँद नहीं थी। मेंहदी गूँधी किस से गयी?...आग़ा हश्र के..." इससे आगे कहते-कहते रुक गये। एक साहब, जो शायद शिआ[२] थे, महफ़िल से उठ कर चले गये। आग़ा साहब ने विषय बदल दिया।

पं० मोहसिन को मौक़ा मिला, और उन्होंने फिर दरख़्वास्त की, "आग़ा साहब, दो रील की कॉमेडी आपको लिखनी होगी।"

आग़ा साहब ने यह मोटी-सी गाली दी, "कॉमेडी की...यहाँ ट्रेजिडी की बातें हो रही हैं और तुम अपनी कॉमेडी ले आये हो।" यह कह कर आग़ा साहब करबला की दुखान्त घटना के बारे में फिर बड़ी विद्वत्तापूर्ण बातें करने लगे। क्योंकि वो जी भर के इस विषय पर अपने ज्ञान और विचारों का प्रदर्शन नहीं कर सके थे। पर तुरन्त ही जाने क्या मन में आया कि एक दम अपने नौकर को गालियाँ देनी शुरू कर दीं कि वह अभी तक आया क्यों नहीं। इसलिए वह सिलसिला टूट गया।

थोड़ी देर के बाद किसी ने आग़ा साहब से मौलाना आज़ाद के ज्ञान और विद्वत्ता के बारे में पूछा तो उन्होंने उसका जवाब कुछ यों दिया,

"महीउद्दीन के बारे में पूछते हो? हम दोनों इकट्ठे अमरीकी और

---

रणक्षेत्र में अपने भतीजे से उसका विवाह कर देने का निश्चय किया था। उसमें उनकी लड़की को मेंहदी लगायी जाने वाली थी। मुहर्रम में उसी घटना की याद में मेंहदी का जुलूस निकाला जाता है। दजला और फ़रात इराक़ की दो नदियों का नाम है, जिनके पानी से इमाम और उनके साथियों को जबरदस्ती वंचित रखा गया था।

२. शिआ मुसलमानों का वह सम्प्रदाय है, जो इमाम हुसैन का कट्टर अनुयायी है और करबला की घटनाओं की जरा-सा भी आलोचना सहन नहीं करता।

ईसाई मुबल्लिग़ों (धर्म प्रचारकों) से मुनाज़रे (शास्त्रार्थ) करते रहे हैं। घंटों अपना गला फाड़ते थे। अजब दिन थे वो भी।"

यह कह कर आग़ा साहब लाचे और इज़ार बन्द के भड़कीले रंगों और कानों में उड़से हुए फायों और सिर में चुपड़े हुए इत्र की तेज़ ख़ुशबू सहित बीते हुए दिनों की याद में कुछ अर्से के लिए खो गये। उन्होंने अपनी मोटी-मोटी आँखें बन्द कर लीं। जो हुलिया उन्होंने बना रखा था, उससे यद्यपि वो रंडियों के पीर दिखायी देते थे, लेकिन उनका चेहरा बहुत ही रोबदार था। आँखें बन्द थीं। झुके हुए पपोटों की झुर्रियों वाली पतली खाल के नीचे मोटी-मोटी काँच की गोलियाँ-सी हौले-हौले हरकत कर रही थीं। उन्होंने जब आँखें खोलीं तो मैंने सोचा, कितने बरसों का नशा इनमें जमा है। किस क़दर सुर्ख़ी इनके डोरों में समो चुकी है।

आग़ा साहब ने फिर कहा, "अजीब दिन थे वो...आज़ाद ढील दे के पेच लड़ाने का आदी था। मुझे मज़ा आता था खींच के पेच लड़ाने में। एक हाथ मारा और पेटा काट लिया; ऐसे, कि हरीफ़ (प्रतिद्वन्द्वी) मुँह देखते रह गये। एक बार आज़ाद बहुत बुरी तरह घिर गया। मुक़ाबिला चार निहायत ही हठ-धर्म ईसाई मिशनरियों से था। मैं पहुँचा तो आज़ाद की जान में जान आयी। उसने उन मिशनरियों को मेरे हवाले किया। मैंने दो-तीन ऐसे अड़ंगे दिये कि बौखला गये। मैदान हमारे हाथ रहा।"

इतने में आग़ा साहब का नौकर आ गया। आग़ा साहब ने अपने ख़ास अन्दाज़ में उसको गालियाँ दीं और कारण पूछा कि उसने इतनी देर क्यों की? नौकर ने, जो गालियों का आदी मालूम होता था, काग़ज़ का एक बंडल निकाला और खोल कर आगे बढ़ाया। "ऐसी चीज़ लाया हूँ कि आप की तबियत ख़ुश हो जाय।"

आग़ा साहब ने खुला हुआ बंडल हाथ में लिया—भड़कीले रंग के चार इज़ारबन्द थे। आग़ा साहब ने एक नज़र उनको देखा और आँखों को बड़े ही भयानक भाव से ऊपर उठा कर अपने नौकर पर गरजे..."यह चीज़ लाया है तू...ऐसे वाहियात इज़ारबन्द तो इस शहर के कुंजड़े भी नहीं

पहनते।" यह कह कर उन्होंने बंडल फ़र्श पर दे मारा।...कुछ देर नौकर पर बरसे फिर जेब में से शायद दो-तीन हज़ार रुपये के नोट निकाले और उसे हुक्म दिया, "जाओ पान लाओ।"

पं० मोहसिन ने गुड़गुड़ी एक तरफ़ रखी और कहा, "नहीं-नहीं, आग़ा साहब, मैं मँगवाता हूँ।"

आग़ा साहब ने सब नोट तमाशबीनों के अन्दाज़ में अपनी जेब में रखे और कहा, "जाओ, तुम्हारे पास कुछ बाक़ी बचा हुआ है।"

नौकर जाने लगा तो उन्होंने उसे रोका, "ठहरो!...वहाँ से पता भी लेते आओ कि वो अभी तक क्यों नहीं आयीं?"

नौकर चला गया। थोड़ी देर के बाद सीढ़ियों की तरफ़ से हल्की-सी महक आयी। फिर रेशमी सरसराहटें सुनायी दीं।...आग़ा साहब का चेहरा खिल उठा।...मुख़्तार, जो हरगिज़-हरगिज़ हसीन नहीं थी, सुन्दर वस्त्रों में सजी-सँवरी सहन में आ गयी। आग़ा साहब और उपस्थित लोगों को तसलीम की और अन्दर कमरे में चली गयी। आग़ा साहब की आँखें उसको वहाँ तक छोड़ने गयीं।

इतने में पान आ गये, जो अख़बार के काग़ज़ में लिपटे हुए थे। नौकर अन्दर चला तो आग़ा साहब ने कहा, "काग़ज़ फेंकना नहीं, सम्हाल कर रखना।"

मैंने एकदम हैरत से पूछा, "आप इस काग़ज़ को क्या करेंगे आग़ा साहब?"

आग़ा साहब ने जवाब दिया, "पढ़ूँगा। छपे हुए काग़ज़ का कोई भी टुकड़ा, जो मुझे मिला है, मैंने ज़रूर पढ़ा है।" यह कह कर वो उठे, "माफ़ी चाहता हूँ। अन्दर एक माशूक़ मेरा इन्तज़ार कर रहा है।"

पं० मोहसिन ने गुड़गुड़ी उठायी और उसे गुड़गुड़ाने लगे। मैं और हरि सिंह थोड़ी देर के बाद वहाँ से चल दिये।

मैं कई दिनों तक उस मुलाक़ात पर ग़ौर करता रहा। आग़ा साहब

अजीब-ग़रीब हज़ार-पहलू व्यक्तित्व के मालिक थे। मैंने उनके चन्द नाटक पढ़े, जो ग़लतियों से भरे थे और बहुत ही घटिया काग़ज़ पर छपे हुए थे। जहाँ-जहाँ कॉमेडी आती थी, वहाँ फक्कड़पन मिलता था। नाटकीय स्थानों पर सम्वाद बहुत ही ज़ोरदार था। कुछ शेर भद्दे थे, कुछ बहुत ही सुन्दर। सब से मज़े की बात यह है कि उन नाटकों का विषय वेश्या था, जिनमें आग़ा साहब ने वेश्या के अस्तित्व को समाज के लिए ज़हर सिद्ध किया था।...और आग़ा साहब उम्र के उस आख़िरी हिस्से में शराब छोड़ कर एक वेश्या से बहुत ही जोश के साथ इश्क़ फ़रमा रहे थे। पं० मोहसिन से एक बार मुलाक़ात हुई तो उन्होंने कहा, "इश्क़ के बारे में तो मैं नहीं जानता, लेकिन शराब को छोड़ देना बहुत जल्द इनको ले मरेगा।"

आग़ा साहब तो कुछ देर ज़िन्दा रहे, लेकिन पं० मोहसिन यह कहने के लगभग एक महीने बाद इस दुनिया से चल बसे।

मैंने अब कई अख़बारों में लिखना शुरू कर दिया था। कुछ महीने बीत गये। लोगों से मालूम हुआ कि आग़ा हश्र लाहौर में 'रुस्तम-ो-सोहराब' नाम का एक फ़िल्म बना रहे हैं, जिसकी तैयारी पर रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा है। उस फ़िल्म की हीरोइन, जैसा कि प्रकट है, मुख़्तार थी।

अमृतसर से लाहौर सिर्फ़ एक घंटे का सफ़र है। आग़ा साहब से फिर मिलने को जी तो बहुत चाहता था, पर ख़ुदा जाने ऐसी कौन-सी रुकावट थी कि लाहौर जाना ही न हो सका।

बहुत दिनों के बाद बारी साहब ने बुलाया तो मैं लाहौर गया। वहाँ पहुँच कर कुछ ऐसा फँसा कि आग़ा साहब को भूल ही गया। शाम के क़रीब हमने सोचा कि चलो 'उर्दू बुक-स्टाल' चलें। चुनांचे मैं और बारी साहब दोनों अरब होटल से चाय पी कर उधर चल पड़े। 'उर्दू बुक-स्टाल' पहुँचे तो मैंने देखा, आग़ा साहब यासूब हसन की मेज़ के पास कुर्सी पर बैठे हैं। मैंने बारी साहब को बताया कि आग़ा हश्र हैं। उन्होंने ध्यान से उनकी ओर देखा, "ये हैं आग़ा हश्र!"

आग़ा साहब का लिबास उसी क़िस्म का था। सफ़ेद बोस्की की क़मीज़, गहरे-नीले रंग का रेशमी लाचा, नंगा सिर, बैठे एक किताब के पन्ने उलट रहे थे। पास पहुँचा तो एकदम मेरा दिल धड़कने लगा, क्योंकि आग़ा साहब के हाथ में मेरी अनुवाद की हुई किताब 'सरगुज़श्ते-असीर' थी।

यासूब ने उठ कर आग़ा साहब से मेरा और बारी साहब का परिचय कराया और कहा, "यह किताब, जो आप देख रहे हैं, मिस्टर मंटो की तरजुमा की हुई है।" आग़ा साहब ने अपनी मोटी-मोटी आँखों से मुझे देखा। मेरा ख़याल था कि वो मुझे पहचान लेंगे, लेकिन उन्होंने मुझे देखने के बाद किताब के कुछ पन्ने पलटे और कहा, "कैसा लिखने वाला है विक्टर ह्यूगो?"

बारी साहब ने कहा, "फ़्रान्सीसी अदब में विक्टर ह्यूगो का दर्जा बहुत-बहुत बलन्द है।"

आग़ा साहब पन्ने पलटते रहे, "ड्रामाटिस्ट था?"

अबकी फिर बारी साहब ने जवाब दिया, "ड्रामाटिस्ट भी था।"

आग़ा साहब ने पूछा, "क्या मतलब?"

बारी साहब ने उन्हें बताया कि ह्यूगो असल में शायर था। फ़्रान्स के रोमानी आन्दोलन का नेता। उसने नाटक और उपन्यास भी लिखे। एक उपन्यास 'पीड़ित' इतना विख्यात हुआ कि उसकी शायरी को लोग भूल गये और उसे उपन्यासकार के रूप में जानने लगे। आग़ा साहब ये बातें बड़ी दिलचस्पी से सुनते रहे। आख़िर में उन्होंने यासूब हसन से कहा कि 'सरगुज़श्ते-असीर' भी उन किताबों में शामिल कर ली जाय, जो वो ख़रीद रहे थे। मैं बहुत ख़ुश हुआ।

इसके बाद बारी साहब से बातें करते-करते उठे और अन्दर शो-रूम में चले गये। बारी साहब की बातचीत से आग़ा साहब प्रभावित हुए थे, चुनांचे उन्होंने बारी साहब की सिफ़ारिश पर कई किताबें ख़रीदीं। इसी बीच में बारी साहब ने उनसे कहा, "आग़ा साहब, आप हिन्दुस्तानी ड्रामे की तारीख़ क्यों नहीं लिखते? ऐसी किताब की बेहद ज़रूरत है।"

आग़ा साहब ने जवाब दिया, "ऐसी किताब सिर्फ़ आग़ा हश्र ही लिख सकता है। उसका इरादा भी था। मगर वह कमबख़्त क़ब्र में पैर लटकाये बैठा है...उसके दरवाज़े पर मौत दस्तक दे रही है।"

मैंने उनसे पूछा, "आग़ा साहब, आपके ड्रामे, जो बाज़ार में बिकते हैं..."

मैंने अभी वाक्य पूरा भी न किया था कि आग़ा साहब ने ऊँची आवाज़ में कहा, "लाहौल विला...आग़ा हश्र के ड्रामे और...के चीथड़ों पर छपें।...बग़ैर इजाज़त के, इधर-उधर से सुन-सुना कर छाप देते हैं।" इसके बाद उन्होंने बहुत ही मोटी गाली उन प्रकाशकों को दी, जिन्होंने उनके नाटक छापे थे।

मैंने उनसे कहा, "आप उन पर पर दावा क्यों नहीं दायर करते ?"

आग़ा साहब हँसे, "क्या वसूल कर लूगा इन टुटपुँजियों से।"

बात सही थी। मैं चुप हो गया।

आग़ा साहब ने बाहर आ कर यासूब हसन से बिल माँगा और जेब से तमाशबीनों के अन्दाज़ में तीन-चार हज़ार रुपये के बिलकुल नये नोट निकाले। उन दिनों दस-दस और पाँच-पाँच के नये नोट निकले थे, जो पहले नोटों की अपेक्षा छोटे थे। आग़ा साहब ने बताया कि चेक कैश कराने के लिए जब बैंक गये तो समय हो चुका था। उन्होंने क्लर्क से कहा, "आग़ा हश्र का वक़्त अभी पूरा नहीं हुआ। जल्दी चेक कैश कराओ।"

क्लर्क को जब मालूम हुआ कि आग़ा हश्र हैं तो वह भागता हुआ मैनेजर के पास गया। मैनेजर तुरन्त दौड़ा-दौड़ा उनके पास आया और अपने कमरे में ले गया। नये नोट मँगवा कर उसने बड़े अदब से आग़ा साहब को पेश किये और कहा, "मैं आप की और कोई सेवा तो नहीं कर सकता। ये नये नोट आये हैं। सब से पहले आपकी सेवा में भेंट करता हूँ।"

बारी साहब ने एक नोट आग़ा साहब से ले लिया और उसको उँगलियों में पकड़ कर कहा, "आग़ा साहब! गिरफ़्त कुछ कम हो गयी है। ठीक उसी तरह, जैसे हुकूमत की।"

आग़ा साहब ने इस फ़िकरे की बहुत दाद दी, "ख़ूब, बहुत ख़ूब... गिरफ़्त कुछ कम हो गयी है—ठीक उसी तरह, जिस तरह हुकूमत की— मैं किसी-न-किसी नाटक में इसे ज़रूर इस्तेमाल करूँगा।"

बारी साहब बहुत ख़ुश हुए। इतने में वह नौकर आया। वही, ज पंडित मोहसिन के दफ़्तर में इज़ारबन्द लाया था। उसके हाथों में चार क़न्धारी अनार थे। आग़ा साहब ने एक अनार लिया और नाक-भौं चढ़ा कर गाली दी, "निहात ही वाहियात अनार हैं।"

नौकर ने पूछा, "वापस कर आऊँ ?"

आग़ा साहब बोले—"नहीं बे, तू खा ले।" इसके बाद उन्होंने एक वज़नदार गाली लुढ़का दी।

आग़ा साहब जाने लगे तो मैंने आटोग्राफ़ बुक निकाल कर उनके दस्तख़त लिये। आग़ा साहब जब काँपते हुए हाथ से अपना नाम लिके चुका तो कहा, "एक ज़माने के बाद मैंने ये चन्द हर्फ़ लिखे हैं।"

अमृतसर चला आया। कुछ अर्से के बाद यह ख़बर आयी कि लाहौर में कुछ दिन की बीमारी के बाद आग़ा हश्र कश्मीरी का देहान्त हो गया है। जनाज़े के साथ गिनत के चन्द आदमी थे।

दीनू या फ़ज़्लू कुम्हार की बैठक पर जब आग़ा साहब की मौत का ज़िक्र हुआ तो उसने नाल के पैसे अपनी जालीदार टोपी में रखते हुए बड़े ही दार्शनिक भाव से कहा, "बुढ़ापे का इश्क़ बहुत ज़ालिम होता है।"

## चराग़ हसन हसरत

# अल्लामा सर डॉक्टर इक़बाल

मैक्लोड रोड पर लक्ष्मी इंश्योरेंस कम्पनी की इमारत से कुछ आगे सिनेमा है। सिनेमा से इधर एक मकान छोड़ के एक पुरानी कोठी है, जहाँ आजकल आँखों या दाँतों का कोई डॉक्टर रहता है। किसी ज़माने में अल्लामा इक़बाल यहीं रहा करते थे। चुनांचे सन् १६३० ई० में यहीं पहली बार उनकी सेवा में उपस्थित होने का गौरव प्राप्त हुआ था। अब भी मैं उस तरफ़ से गुज़रता हूँ तो उस कोठी के निकट पहुँच कर क़दम रुकते मालूम होते हैं और नज़रें अनायास उसकी तरफ़ उठ जाती हैं।

कोठी अच्छी-ख़ासी थी। सहन भी ख़ासा खुला हुआ। एक तरफ़ नौकर-पेशा के लिए दो-तीन कमरे बने हुए थे, जिनमें अल्लामा इक़बाल के नौकर-चाकर अली बख़्श, रहमान, दीवान अली वग़ैरह रहते थे। लेकिन कोठी की दीवारें सीली हुई, प्लस्तर जगह-जगह से उखड़ा हुआ, छतें टूटी-फूटी, मुँडेर की कुछ ईंटें अपनी जगह से इस तरह सरकी हुई थीं कि हर वक़्त मुँडेर के ज़मीन पर आ रहने का भय था। 'मीर'[1] का मकान न सही, पर

---

[1] महाकवि मीर तक़ी 'मीर'

'ग़ालिब' के बल्लीमारान वाले मकान से मिलता-जुलता नक़्शा ज़रूर था।

कोठी के सहन में चारपाई बिछी थी। चारपाई पर उजली चादर। उस पर अल्लामा इक़बाल मलमल का कुरता पहने, तहबन्द बाँधे, तकिये से टेक लगाये हुक़्क़ा पी रहे थे। सुर्ख़-सफ़ेद रंग, भरा हुआ जिस्म, सिर के बाल कुछ सियाह, कुछ सफ़ेद। दाढ़ी घुटी हुई। चारपाई के सामने कुछ कुर्सियाँ थीं। उन पर दो-तीन आदमी बैठे थे। दो-तीन उठ के जा रहे थे। 'सालिक' साहब (उर्दू के मशहूर पत्रकार अब्दुल मजीद 'सालिक') मेरे साथ थे। अल्लामा इक़बाल ने पहले उनका मिज़ाज पूछा फिर मेरी ओर ध्यान दिया।

उन दिनों नमक-सत्याग्रह ज़ोरों पर था। डांडी-मार्च की चर्चा जगह-जगह हो रही थी। लाहौर में रोज़ जुलूस निकलते, जलसे होते और 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' के नारे लगते थे। मैंने कभी खादी के कपड़े नहीं पहने थे। पर वह तो खद्दर का आम मौसम था। कुछ आम रिवाज का असर, कुछ किफ़ायत का ख़याल; मैंने भी खादी पहननी शुरू कर दी। ऐसा लगता है कि अल्लामा इक़बाल का दिमाग़ मेरे खादी के वस्त्रों से चर्ख़े, चर्ख़े से गांधी जी और गांधी जी से कांग्रेस की तरफ़ चला गया। क्योंकि उस रस्मी परिचय के बाद उन्होंने जो बातें शुरू कीं तो उसकी लपेट में गांधी जी, कांग्रेस और अहिंसा—सब-के-सब आ गये थे।

विषय शुष्क था पर बीच-बीच में लतीफ़े भी होते जाते थे। मैं तो 'हूँ' 'हाँ' करके रह जाता था, पर सालिक साहब कब रुकने वाले थे। जहाँ मौक़ा मिलता था, कोई लतीफ़ा, कोई चुटकुला, कोई फब्ती ज़रूर कह देते थे। हम जब गये थे तो सूरज छिपने में कोई आध घंटा बाक़ी था, पर उठे तो अच्छी-ख़ासी रात हो चुकी थी। मुझे लाहौर आये हुए सवा साल से ऊपर हो चुका था, लेकिन अधिक लोगों से सम्पर्क नहीं था। या अकेला घर में बैठा हूँ या सालिक साहब के यहाँ। हफ़्ते में एक-दो बार हकीम फ़क़ीर मुहम्मद साहब चिश्ती के यहाँ भी चला जाता था। लेकिन अब जो अल्लामा इक़बाल की सेवा में पहुँच हो गयी तो एक और ठिकाना हाथ आगया। कुछ दिनों में तो यह हालत हो गया कि अव्वल तो दूसरे-तीसरे, वरना सातवें-आठवें

उनकी ख़िदमत में ज़रूर पहुँचता। कभी किसी दोस्त के साथ, कभी अकेला। लेकिन जब जाता था, घंटा-दो-घंटा ज़रूर बैठता था। कभी-कभी ऐसा होता था कि बारह-बारह बजे तक बराबर महफ़िल जमी है। लोग आ रहे हैं, जा रहे हैं। साहित्य, कविता, राजनीति, धर्म पर बहसें हो रही हैं। लेकिन उन महफ़िलों में सब से ज़्यादा बातें अल्लामा इक़बाल करते थे। दूसरे लोगों की हैसियत अधिकतर 'श्रोताओं' की होती थी। मेरा यह मतलब नहीं कि वे दूसरों को बात करने का मौक़ा नहीं देते थे या बात काट कर बोलना शुरू कर देते थे, बल्कि सच यह है कि हर विषय में उनकी जानकारी दूसरों से अधिक होती थी और उपस्थित लोगों के लिए इसके अतिरिक्त कोई दूसरा चारा न होता था कि चन्द जुमले कह कर चुप बैठ रहें।

उनके मकान के दरवाज़े ग़रीब-अमीर, छोटे-बड़े सब पर खुले थे। न कोई संतरी न दरबान। न मुलाक़ात के लिए कार्ड भिजवाने की ज़रूरत न परिचय के लिए किसी सहारे की आवश्यकता। जो आता है, कुर्सी खींच कर बैठ जाता है और या तो स्वयं अपना परिचय देता है या चुपचाप बैठा बातें सुनता रहता है। अल्लामा इक़बाल बातें करते-करते थोड़ी देर के लिए रुकते हैं तो उसकी तरफ़ ध्यान देते हैं और पूछते हैं, 'फ़रमाइए, कहाँ से आना हुआ?' वह अपना नाम बताता है। कोई ज़रूरत होती है तो बयान कर देता है।

डा० मुहम्मद दीन 'तासीर' कहते हैं कि एक रात को मैं डॉ० इक़बाल साहब की सेवा में उपस्थित था। कुछ और लोग भी बैठे थे कि एक आदमी, जिसके सिर के बाल बढ़े हुए थे और कुछ बदहवास मालूम होता था, आया और सलाम करके बैठ गया। अल्लाम इक़बाल कुछ देर बाद उसकी ओर आकृष्ट हुए और कहने लगे, "फ़रमाइए, कहाँ से तशरीफ़ लाये?" वह कहने लगा, "यों ही, आपसे मिलने चला आया था।" खुदा जाने डॉक्टर इक़बाल ने उसके चेहरे से मालूम कर लिया कि उसने खाना नहीं खाया, या कोई और बात थी, बहरहाल उन्होंने पूछा, "खाना खाइएगा?" उसने जवाब दिया, "हाँ, खिला दीजिए!" डॉक्टर इक़बाल ने अली बख़्श को बुला कर

कहा, "इन्हें दूसरे कमरे में ले जा कर खाना खिला दो।" यह सुन कर वह कहने लगा, "मैं खाना यहीं खाऊँगा।" ग़रज़ अली बख़्श ने वहीं दस्तरख़्वान बिछा कर उसे खाना खिलाया। वह खाना खा कर भी न उठा और वहीं चुपचाप बैठा रहा। रात अच्छी-ख़ासी जा चुकी थी, इसलिए मैं उसे वहीं छोड़ कर घर चला आया। दूसरे दिन डॉक्टर साहब की सेवा में पहुँचा तो मैंने सब से पहले यह सवाल किया कि क्यों डॉक्टर साहब, रात जो आदमी आया था, उसका क्या हुआ? कहने लगे, तुम्हारे जाने के बाद मैंने उससे कहा कि अब सो जाइए। लेकिन वह कहने लगा कि आपके कमरे में ही पड़ रहूँगा। चुनांचे अली बख़्श ने मेरे कमरे के दरवाज़े के साथ उसके लिए चारपाई बिछा दी। सुबह-सबेरे उठ कर वह कहीं चला गया।

उनसे जो लोग मिलने आते थे, उनमें कुछ तो रोज़ के आने वाले थे, कुछ दूसरे-तीसरे और कुछ सातवें-आठवें आते थे। बहुत से लोग ऐसे थे, जिन्हें उम्र भर में सिर्फ़ एक-आध बार उनसे मिलने का मौक़ा मिला। फिर भी उनके यहाँ हर वक़्त मेला-सा लगा रहता था। जब जाओ, दो-तीन आदमी बैठे हैं। कोई सिफ़ारिश कराने आया है; कोई किसी शे'र का अर्थ पूछ रहा है; किसी ने आते ही राजनीतिक बहस छेड़ दी और कोई मज़हब के सम्बन्ध में अपनी शंकाएँ बयान कर रहा है।

अक्सर लोग, जो बाहर के किसी शहर से लाहौर की सैर करने आते थे, उनकी कोठी पर हाज़िर होना अनिवार्य समझते थे। क्योंकि लाहौर आ कर अल्लामा डॉक्टर इक़बाल को न देखा तो क्या देखा! ऐसे लोग भी थे, जो उनके नाम के साथ 'डॉक्टर' लिखा देख कर उनसे इलाज कराने आ जाते थे। चुनांचे एक बार एक आदमी उनसे दाँत निकलवाने चला आया था। जब उसे मालूम हुआ कि डॉ० इक़बाल इलाज करना नहीं जानते तो वह बड़ा हैरान हुआ और कहने लगा, कि ये कैसे डॉक्टर हैं, जिन्हें दाँत निकालना भी नहीं आता।

बहुत से लोग ऐसे भी हैं जिन्हें अल्लामा इक़बाल से मिलने और उनकी बातें सुनने की इच्छा उम्र भर रही, पर उनकी सेवा में उपस्थित होने का

साहस न हुआ। इसका कारण यह था कि उन लोगों को अल्लामा इक़बाल के स्वभाव का कुछ भी ज्ञान नहीं था। वे उनकी महानता की चर्चा सुन-सुन कर और उनके नाम के साथ 'सर' जैसी रोबदार उपाधि देखकर मन में समझते थे कि उनकी सेवा में हम ऐसे ग़रीब लोगों की पहुँच कहाँ। मेरे एक गहरे दोस्त, जो अल्लामा इक़बाल के बड़े भक्त हैं, उनके स्वर्गवास से कोई दो महीने के बाद मुझसे मिलने आये और जब तक बैठे रहे, उनकी ही चर्चा करते रहे। जब उन्हें मेरी ज़बानी मालूम हुआ कि अल्लामा इक़बाल से हर आदमी मिल सकता था, तो उन्होंने अनायास रोना शुरू कर दिया और कहने लगे, "तुमने मुझे पहले क्यों न बताया। मुझे कई साल से उनकी ख़िदमत में हाज़िर होने की तमन्ना थी, मगर हौसला नहीं पड़ता था। जी में सोचता था कि बग़ैर किसी ज़रिये के कैसे मिलूँ। क्या अजब है कि वो मिलने से इनकार ही कर दें। कई बार इस शौक़ में उनकी कोठी तक गया, मगर अन्दर क़दम रखने की हिम्मत न पड़ी। इसलिए बाहर से ही उल्टे पाँव लौट आया......।"

अल्लामा इक़बाल बहुत सीधी-सादी ज़िन्दगी बिताते थे। घर में तो वे हमेशा तहबन्द और कुर्ते में नज़र आते थे। हाँ, बाहर निकलते तो कभी कोट पतलून पहन लेते थे। कभी फ़राक कोट के साथ शलवार और तुर्की टोपी होती थी। विलायत जाने से पहले वे पंजाबियों का आम लिबास पहनते थे यानी कभी मशहदी लुंगी के साथ फ़राक-कोट और शलवार, कभी सफ़ेद मलमल की पगड़ी। वे शेरवानी और चुस्त घुटन्ना भी पहनते रहे हैं, मगर बहुत कम। मैंने इस लिबास में उन्हें देखा तो नहीं, पर अनुमान है कि शेरवानी और चुस्त घुटन्ना उनके जिस्म पर बहुत खिलता होगा।

वे खाना कम खाते थे, पर हमेशा अच्छा खाते थे। मुद्दत से उनका यह नियम था कि रात को खाना नहीं खाते थे, सिर्फ़ नमकीन कशमीरी चाय पी लिया करते थे। दस्तरख़्वान पर हमेशा दो-तीन सालन ज़रूर होते थे। पुलाव और कबाब उन्हें बहुत पसन्द थे। शबदेग[1] पकवाते और ख़ुश्के के

**१. शलग़म, अंडे, कबाब इत्यादि बन्द बरतन में धीमी आँच पर रात भर पकाये जाते हैं।**

साथ खाते थे । फलों में सिर्फ़ आमों का चाव था । आमों की फ़सिल में लगन और सीनियाँ भर के बैठ जाते । स्वयं खाते, दोस्तों को खिलाते । लतीफ़े कहते, आप हँसते और दूसरों को हँसाते थे ।

जवानी के दिनों में उनका नित्य का नियम था कि सुबह उठ कर नमाज़ पढ़ते, क़ुरान शरीफ़ का पाठ करते, फिर कसरत शुरू कर देते । डँड़ पेलते, मुगदर हिलाते और जब सारा जिस्म पसीने से भीग जाता तब मुगदर हाथ से छूटता । सिन ज़्यादा हो गया तो कसरत छूट गयी । हाँ, क़ुरान का पाठ आख़िरी वक़्त तक जारी रहा ।

आम तौर पर पंजाबी बोलते थे । कभी-कभी बातें करते-करते अंग्रेज़ी बोलना भी शुरू कर देते थे । यू० पी० के जो शायर और अदीब उनसे मिलने आते थे, उन्हें सर इक़बाल के डील-डौल, लब-ो-लहजे और बात-चीत के अन्दाज़ पर हैरत होती थी, क्योंकि उन लोगों के दिमाग़ में शायर का काल्पनिक रूप कुछ और ही है—तीखे-तीखे नक़्श, जिस्म धान-पान बल्कि मुश्ते-अस्तख़्वान ( हड्डियों का ढाँचा ), कल्ले में गिलौरी, जिसकी पीक बह-बह कर ठोड़ी तक पहुँची है । सिर पर पट्टे और उन पर दो पल्ली टोपी । बात-बात पर तसलीमात बजा लाता और दोहरा हुआ जाता है । बग़ल में काग़ज़ों का पुलिन्दा, जिसमें कुछ अधूरी और कुछ पूरी ग़ज़लें । सामने वाले के मज़ाक़ ( सुरुचि ) और विचारों का लिहाज़ नहीं करता । जो मिलने आता है, उसे अपना कलाम सुनाना शुरू कर देता है और तब तक चुप नहीं होता, जब तक सुनने वाला उकता नहीं जाता ।

मुझसे यू० पी० के एक मशहूर शायर ने, जो अल्लामा इक़बाल से मिल चुका था, ताज्जुब के अन्दाज़ में कहा, "अजी साहब ! डॉक्टर इक़बाल अपने लब-ो-लहजे और डील-डौल से बिलकुल पंजाबी मालूम होते हैं ।" गोया उनके नज़दीक अच्छे शायर के लिए ज़रूरी है कि वह अपने लब-ो-लहजे और डील-डौल से पंजाबी मालूम न हो ।

एक बार यू० पी० के एक शायर आये और थोड़ी देर बाद उन्होंने अल्लामा इक़बाल से उनका कलाम सुनने की इच्छा प्रकट की । उन्होंने टालना चाहा ।

लेकिन आप जानते हैं कि यू० पी० का शायर शे'र सुनने के मामले में हमेशा 'बे पनाह' होता है। उन्होंने अल्लामा इक़बाल के इनकार को शायराना इनकिसार (विनम्रता) समझा और बराबर तक़ाज़ा जारी रखा। जब यों काम न निकला तो अपनी एक ग़ज़ल सुनानी शुरू कर दी। अल्लामा इक़बाल कुछ देर तो चुपचाप बैठे सुनते रहे। लेकिन जब देखा कि वो हज़रत कान खाना ही काफ़ी नहीं समझते, बल्कि साथ-ही-साथ दाद भी चाहते हैं तो उनसे न रहा गया। साफ़ कह दिया कि इस क़िस्से को जाने दीजिए। मैं शे'र सुनने-सुनाने का क़ायल नहीं। वे थोड़ी देर चुपके बैठे रहे, फिर उठ कर चले गये। पर उनके तेवरों से साफ़ मालूम होता था कि यहाँ से निकलते ही आत्म-हत्या कर लेंगे। और इस मामले में वे सही भी थे। उन्हें निश्चय ही उम्र भर में इस क़िस्म के शायर से वास्ता न पड़ा होगा। जी में कहते होंगे, ये कैसे शायर हैं, जो न शे'र सुनाते हैं, न सुनते हैं। न दाद लेने का शौक़, न दाद देने का सलीक़ा।

अल्लामा इक़बाल जवानी में कभी-कभार मुशायरों में भी शरीक हो जाते थे, लेकिन आहिस्ता-आहिस्ता उन्हें इस क़िस्म के जमघटों से नफ़रत-सी हो गयी। एक दिन मुशायरों का ज़िक्र आ गया तो फ़रमाया, "उर्दू शायरी को इन मुशायरों ने खोया।" मैंने पूछा, "वो कैसे?" कहने लगे "मुशायरों में बुरे-भले सब शरीक होते हैं और दाद को शे'र की अच्छाई और बुराई की कसौटी समझा जाता है। इसका नतीजा यह हुआ कि उर्दू शायरी ने अवाम (जनसाधारण) के मज़ाक़ को अपना रहनुमा (पथ-प्रदर्शक) बना लिया।" मैंने अर्ज़ किया, "इन मुशायरों ने तो उर्दू ज़बान को बहुत फ़ायदा पहुँचाया है।" फ़रमाया, "ज़बान को फ़ायदा पहुँचाया और शायरी को ग़ारत कर डाला।"

अल्लामा इक़बाल की तबियत बड़ी विनोद-प्रिय थी। शुष्क दार्शनिक विषयों को भी वे लतीफ़ों और फब्तियों से ऐसा दिलचस्प बना देते थे कि जी चाहता था, पहरों बैठे उनकी बातें सुनते रहें। यों तो हर रोज़ दो-तीन लतीफ़े हो जाया करते थे, लेकिन जो फब्तियाँ उन्होंने सर शहाबुद्दीन पर कही

हैं, उन्हें ऐतिहासिक महत्व प्राप्त हो गया है। ऐसा लगता है मानो उन्हें देख कर अल्लामा इक़बाल को लतीफ़ों और फब्तियों के सिवा और कुछ नहीं सूझता था। सर शहाबुद्दीन का रंग बेहद काला था। एक बार वे काला सूट पहन कर असेम्बली में आये। अल्लामा इक़बाल ने उन्हें देखा तो हँस के फ़रमाया, "चौधरी साहब! आज तो आप नंगे ही चले आये।"

चौधरी साहब ने ग़ौर किया तो मालूम हुआ कि वस्त्रों के चुनाव में उन्होंने सचमुच भूल की है। काले रंग पर काला कोट सचमुच भला नहीं लगता। लोगों को यह जानने में कठिनाई होती है कि कोट का कालर कहाँ है और ठोढ़ी कहाँ? यह सोच कर काले सूट की बजाय सफ़ेद सूट पहनना शुरू कर दिया। सफ़ेद पतलून, सफेद कोट, सफ़ेद क़मीज़, सफ़ेद पगड़ी। चूँकि वे ख़ुद भी पंजाबी के शायर थे, इस लिए सफ़ेद सूट पहन कर समझ लिया कि अब कोई आपत्ति नहीं कर सकता। सफ़ेद लिबास में काला चेहरा इसी तरह मालूम होगा जैसे गोरे गालों पर काला तिल। और माशूक़ के गाल के तिल की तारीफ़ में तो शायरों ने दीवान के दीवान लिख मारे हैं। अल्लामा इक़बाल ने उन्हें नये रूप में देखा तो सिर से पाँव तक एक नज़र डाली और अनायास हँस पड़े। चौधरी साहब ने झुँझला कर पूछा, "आप हँसते क्यों हैं?" अल्लामा इक़बाल ने कहा, "मैं देख रहा हूँ कि ये आप हैं या कपास के खेत में अरना भैंसा।"

एक बार फिर ऐसे ही एक मौक़े पर उन्होंने बुझे हुए सिग्रेट की फब्ती कही थी।

एक बार बेतकल्लुफ़ दोस्तों की सोहबत में बैठे बातें कर रहे थे कि चौधरी शहाबुद्दीन की बात छिड़ गयी। कहने लगे, "मैंने ख़्वाब की हालत में एक बुढ़िया देखी, जो स्टेशन की तरफ़ जा रही थी। मैंने पूछा, तू कौन है? कहने लगी, मैं ताऊन हूँ। मैंने पूछा, तो भाग कर कहाँ जा रही है? कहने लगी, मैं शहर की तरफ़ जाना चाहती थी। लेकिन वहाँ शहाबुद्दीन पहले ही मौजूद है। मेरी क्या ज़रूरत रह गयी?"

एक दिन सर शहाबुद्दीन से कहने लगे, "चौधरी साहब! आप सच्चे

मुसलमान हैं।" चौधरी साहब ने पूछा, "आपको कैसे मालूम हुआ ?" कहने लगे, "मुसलमान की पहचान यह है कि वह अन्दर और बाहर से एक-सा होता है और ख़ुदा का शुक्र है कि आप भी बाहर और अन्दर से बिलकुल एक-से हैं।"

इस क़िस्म के लतीफ़े, जो सिर्फ़ चौधरी सर शहाबुद्दीन से सम्बन्ध रखते हैं, हज़ारों नहीं तो कम-से-कम सैकड़ों ज़रूर हैं। लेकिन मुसीबत यह है कि अल्लामा इक़बाल अल्लाह को प्यारे हो गये और चौधरी साहब बताते नहीं। दूसरे लोगों को जो लतीफ़े याद रह गये हैं, उनमें से कुछ हाज़िर हैं। कुछ और भी हैं, लेकिन उन्हें इस लिए नहीं लिखता कि मैं ताज़ीराते-हिन्द और ज़ाब्ता दीवानी दोनों से बहुत डरता हूँ। ताज़ीराते-हिन्द तो ख़ैर कुछ ज़्यादा डरने की चीज़ नहीं, लेकिन ज़ाब्ता दीवानी की पकड़ में आने के लिए ज़रा जेब में 'ज़ोर' होना चाहिए। क्योंकि मुझे डिगरी और क़ुर्क़ी से बहुत डर लगता है।

मैं पहले बता चुका हूँ कि अल्लामा इक़बाल से हर क़िस्म के लोग मिलने आते थे और वे सब की बातें ग़ौर से सुनते और उनका जवाब देते थे। दूसरे-तीसरे कॉलेजों के कुछ विद्यार्थी भी आ जाते थे। उनमें से कोई उनके शे'रों के अर्थ पूछता था, कोई मज़हब के बारे में सवाल करता था, कोई फ़लसफ़े की बहस ले बैठता था। एक बार गवर्नमेन्ट कॉलेज के चार-पाँच विद्यार्थी उनके पास आये। आप जानते हैं कि कॉलेज के लड़कों में बनने-सँवरने का शौक़ ज़्यादा है, पौडर और सुर्ख़ी का इस्तेमाल दिन-पर-दिन बढ़ता जाता है। अबरुओं को ख़म देने, ज़ुल्फ़ों में बल डालने, गालों या होंठों पर सुर्ख़ी लगाने का शौक़ बढ़ता जा रहा है। एक तो ये चारों पाँचों ख़ूबसूरत और नाज़ुक बदन, उस पर बनाव-सिगार का ख़ास आयोजन। उन्होंने आते ही पर्दे की बहस छेड़ दी और एक नौजवान कहने लगा, "डॉक्टर साहब, अब मुसलमानों को पर्दा उठा देना चाहिए।"

डा० साहब मुस्करा कर बोले, "आप औरतों को पर्दे से निकालना चाहते हैं और मैं इस फ़िक्र में हूँ कि कॉलेज के नौजवानों को भी पर्दे में बिठा

दिया जाय।"

अली बख़्श उनका पुराना नौकर था और कोई चालीस साल तक बराबर उनके साथ रहा। नौकरी शुरू की तो रेखें भी नहीं निकली थीं। अब डाढ़ी मूँछें सफ़ेद हो चुकी थीं। दाढ़ी तो ख़ैर मुँड़वा दी और पर्दा ढक गया। मूँछों में ख़िज़ाब लगाया। पर चन्द दिनों में ख़िज़ाब उड़ गया और मूँछों का रंग कुछ अजीब-सा हो गया। सर इक़बाल के देहान्त से एक दो महीने पहले की बात है कि वे तकिये से टेक लगाये बैठे थे। इर्द-गिर्द कुछ बेतकल्लुफ़ दोस्त बैठे थे। अली बख़्श पास में खड़ा था कि उसकी मूँछों के रंग की बात छिड़ गयी। एक साहब कहने लगे, "यह बात हमारी समझ में नहीं आयी कि आख़िर अली बख़्श की मूँछों की रंगत क्या है?" दूसरे बोले, "ख़ाकिस्तरी!" एक और साहब ने कहा, "ख़ाकिस्तरी नहीं, अगरई।" डा० साहब भी सुन रहे थे। मुस्करा कर बोले, "न अगरई न ख़ाकिस्तरी—मुछई कहो मुछई।"

अल्लामा इकबाल के मिलने वालों में दो शख़्स बहुत दिलचस्प थे। मौलाना गिरामी जालन्धरी और अब्दुल्लाह चग़ताई। गिरामी होशियार पुर के रहने वाले और फ़ारसी के बहुत बड़े शायर थे। लेकिन उनकी सूरत-शक्ल, चेहरे-मुहरे से ज़रा भी न लगता था कि मेधावी या बुद्धिजीवी हैं। सिर पर बड़ा पग्गड़, जिसके पेच खुले हुए। बड़े-बड़े हाथ-पाँव। हाथ में डंडा लिये रहते। अल्लामा इक़बाल से उन्हें सच्ची मुहब्बत थी। लाहौर आते थे तो महीनों उनके ही यहाँ रहते थे। कभी वे देर तक न आते थे तो अल्लामा इक़बाल उन्हें ख़ुद बुलवा भेजते थे। एक बार मालूम हुआ कि गिरामी जालन्धर आये हुए हैं। डॉक्टर इक़बाल ने अली बख़्श को जालन्धर भेजा कि गिरामी को ले आओ। गिरामी ने उसे देख कर कहा, "अरे अली बख़्श तुम कहाँ?" उसने कहा, "आपको लेने आया हूँ।" वे बोले, "मैं तो ख़ुद लाहौर चलने की तैयारी कर रहा हूँ।...अरे कोई है? ताँगा लाओ! स्टेशन

तक जायेंगे। अच्छा-सा ताँगा हो। लाहौर जा रहे हैं लाहौर। वक़्त पर स्टेशन पहुँच जाये।"

ताँगा आया और ताँगे वाले ने उसे धूप में खड़ा कर दिया। थोड़ी देर में मौलाना गिरामी घर से निकले और पिछली सीट पर बैठ गये। लेकिन क्षण भर बैठ कर उतर गये और अली बख़्श से कहने लगे, "तुम लाहौर चले जाओ। मैं नहीं जाता।"

उसने पूछा, "वह क्यों!"

कहने लगे, "ताँगा गर्म हो गया है। डॉक्टर को मेरा बहुत-बहुत सलाम कहना और कह देना, ताँगा गर्म हो गया था, इस लिए नहीं आये। अगले महीने आयेंगे, अगले महीने! हाँ, यह ज़रूर कह देना कि ताँगा गर्म हो गया था।"

गिरामी के लतीफ़े तो बे गिनती हैं, लेकिन इस ख़याल से नहीं लिखता कि यह मज़मून कहीं 'गिरामी के लतीफ़े' बन कर न रह जाये। अब्दुल्लाह चग़ताई गिरामी को नहीं पहुँचते। वैसे वे भी अपने अन्दाज़ के एक ही बुज़ुर्ग हैं। जितना तेज़ बोलते हैं उतना ही तेज़ चलते हैं। और लिखने में बोलने और चलने दोनों से तेज़। आधा वाक्य दिमाग़ में है, आधा काग़ज़ पर। यही कारण है कि उनकी नस्र (गद्य) 'ग़ालिब' और 'बेदिल' (फ़ारसी के मशहूर शायर) की नज़्म (पद्य) से ज़्यादा मुश्किल होती है। डॉ० इक़बाल उन्हें छेड़-छेड़ कर उनकी बातें सुनते और मज़ा लेते थे।

डॉ० इक़बाल ज़िन्दगी के कुछ मामलों में ख़ास क़ायदों के पाबन्द थे। वे घर का सारा हिसाब-किताब बाक़ायदा रखते थे और हर आदमी के ख़त का जवाब ज़रूर देते थे। लेकिन यह अजीब बात है कि कोई आदमी उनसे कोई सनद या किसी रचना पर उनकी राय लेने आता था तो कहते थे—ख़ुद लिख लाओ। मैं दस्तख़त कर दूँगा। और यह बात महज़ टालने को नहीं कहते थे, बल्कि जो कुछ कोई लिख लाता था, उस पर दस्तख़त कर देते थे। उनकी तबियत में बला की आमद थी। एक-एक बैठक में दो-

दो सौ शे'र लिख जाते थे। पलँग के पास एक तिपाई पर पेंसिल और क़ाग़ज़ पड़ा रहता था। जब शे'र कहने पर तबियत आती थी तब लिखना शुरू कर देते थे। कभी ख़ुद लिखते थे, कभी किसी को लिखवा देते थे। रसूल की मुहब्बत ने उनके दिल को पवित्र बना रखा था। मुहम्मद साहब का नाम लेते वक़्त उनकी आँखें भीग जाती थीं और क़ुरान पढ़ते-पढ़ते अनायास रो पड़ते थे। कहने का मतलब यह कि उनका व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक था। जिन लोगों ने सिर्फ़ उनका कलाम पढ़ा है और उनसे मिले नहीं, वे इक़बाल के कमालों से बेख़बर हैं।

मौत से कोई ढाई साल पहले वे मेश्रो रोड पर अपनी नयी बनी कोठी में उठ गये थे। वहाँ गये अभी थोड़े दिन हुए थे कि उनकी बेगम साहबा का देहान्त हो गया। उन्हें इस घटना का बहुत दुख हुआ। मैंने उस हालत में उन्हें देखा कि बेगम की क़ब्र खोदी जा रही है और वे माथे पर हाथ रखे पास ही बैठे हैं। उस वक़्त वे बहुत बूढ़े मालूम हो रहे थे। कमर झुकी हुई थी और चेहरा पीला पड़ गया था। उस घटना के बाद उनका स्वास्थ्य बिगड़ता चला गया। आख़िर २१ अप्रैल सन् १९३८ ई० को देहान्त हुआ और शाही मसजिद के बाहर दफ़्न हुए।

## कन्हैयालाल कपूर

●●●

### कृष्णचन्द्र

कृष्णचन्द्र उन भाग्यशाली आदमियों में से है, जिनसे पहली बार मिल कर न ख़ुशी होती है न अफ़सोस, बल्कि जिनसे मिलने के बाद आप महसूस करते हैं, अच्छा ही हुआ, इनसे मुलाक़ात हो गयी। लेकिन शायद बेहतर होता अगर न होती! पहली मुलाक़ात—नहीं, हर मुलाक़ात में वह दूसरों पर प्रभाव डालने के बदले उनसे प्रभावित होने के सिद्धान्त को अपनाता है। आप चाहे मामूली कार्यकर्त्ता हों या महान कलाकार, वह आपकी बातें सुन-सुन कर बराबर मुस्कराये जायेगा। यहाँ तक कि आप तंग आकर सोचने लगेंगे—हे भगवान! यह आदमी मुस्कराये ही चला जायेगा या कोई बात भी करेगा। —आप घबरा कर बातें करना बन्द कर देंगे। और वह जल्दी से आपसे हाथ मिला कर कहेगा, "बहुत ख़ुशी हुई आप से मिल कर।" उसके हाथ मिलाने का तरीक़ा भी काफ़ी दिल्चस्प है। प्रायः वह अपना हाथ इस बेदिली से आपके हाथ के ऊपर रख देगा, मानो कह रहा हो—इसे ज़्यादा देर अपनी गिरफ़्त में मत रखिएगा। मुझे इसकी ज़रूरत है।

उसके चेहरे के नक़्श में सब से अधिक आकर्षक उसकी आँखें हैं। यदि

ये आँखें किसी सुन्दर स्त्री के चेहरे पर होतीं तो शायद क़ियामत तो न आती, लेकिन राह चलते लोग उसकी ओर देख कर एक बार ठिठक कर ज़रूर रह जाते। कृष्णचन्द्र को इन आँखों से अधिक से-अधिक लाभ यह पहुँचा है कि उन्हें देखने के बाद लोग उसकी क़रीब-क़रीब गंजी चाँद या मझोले क़द को यह कह कर माफ़ कर देते हैं कि जिस आदमी के पास ऐसी ख़ूबसूरत आँखें हों उसके पास क्या नहीं! वह छरहरे बदन का नौजवान है और नहीं है तो वह अपने आप को छरहरे बदन का नौजवान कहलावाना पसन्द करता है, क्योंकि उसे 'छरहरा' शब्द बेहद पसन्द है।

कृष्णचन्द्र यों तो हर वक़्त दयनीय दिखाई पड़ता है, लेकिन सब से ज्यादह उस समय लगता है, जब वह गम्भीर होने का प्रयास करता है। उस समय वह अपने चेहरे पर ऐसी उदासी के चिह्न पैदा कर लेता है मानो उसे एक दम अपने सारे पाप याद आ गये हों। प्रायः वह गम्भीर होने का प्रयास नहीं करता। लेकिन अपनी तारीफ़ करते, कहानी लिखते या पढ़ते समय उसके होंठों से मुस्कराहट कुछ इस तरह काफ़र हो जाता है, मानो वह ज़िन्दगी भर मुस्करा नहीं सकेगा।

जब वह अपने ख़ास दोस्तों के दायरे में अपनी ताज़ा कहानी पढ़ कर सुनाता है तो अपनी ख़ूबसूरत नस्र ( गद्य ) को इस मुर्दा-दिली से पढ़ता है, मानो किसी अज़ीज़ की क़ब्र पर फ़ातहा पढ़ रहा हो। वह अपनी तारीफ़ सिर्फ़ उन लोगों के सामने करता है, जो उसके ख़याल में उसे समझते हैं, लेकिन जो दर असल उसे बिलकुल नहीं समझते। ख़ुशामद से उसे बैर है इस लिए जब कोई व्यक्ति ( बशर्ते कि वह नारी जाति का न हो ) उसकी तारीफ़ करता है तब वह झट सावधान हो कर विषय का रुख़ पलट देता है। मसलन आप कहेंगे, "आपकी अमुक कहानी उर्दू की सर्व-श्रेष्ठ कहानियों में से है।" और वह कहानी के गुण-दोष पर बहस करने के बदले आप से पूछने लगेगा, "आपने कभी मुर्ग़ाबी का शिकार किया है? नहीं किया! तब तो आपने सचमुच यों ही अपनी ज़िन्दगी बरबाद की।"

वैसे तो वह बेतकल्लुफ़ दोस्तों की महफ़िल में खुल कर हँसता भी है

और कभी-कभार एकाध चौंका देने वाला फ़िक़रा भी कस सकता है। लेकिन प्रायः वह खोया-खोया सा दिखाई देता है, मानो वह भरी महफ़िल में अपने आप का बिलकुल अकेला महसूस कर रहा हो। वह प्रायः दूसरों की बातें सुनता चला जायगा, बल्कि इस तरह की ऐक्टिंग करेगा, जैसे वह उन बातों में गहरी दिलचस्पी ले रहा है। लेकिन वास्तव में वह यह सोच रहा होगा,—अगर इंसान ख़ूबसूरत बातें न कर सके तो बातें करने का फ़ायदा? —उसे ख़ूबसूरत बातों से मुहब्बत है। और जब तक आप सचमुच कोई मारके की बात नहीं करेंगे, वह आपकी बातें ऊपरी दिल से सुनता रहेगा। लेकिन जैसे ही आपने कोई रूह को झकझोर देने वाली बात की, वह तत्काल समाधि की अवस्था से चौंक कर कहेगा, "क्या कहा आपने? मुझे सारी बात फिर शुरू से सुनाइए।"

स्वादिष्ट भोजन उसे बहुत पसन्द है। उसके विचार में अच्छी पत्नी का एक गुण यह भी है कि वह स्वादिष्ट भोजन बना सके। और चूँकि वह जानता है कि उसके अधिकांश दोस्तों की पत्नियाँ अच्छा भोजन बनाने की कला से नितान्त अनभिज्ञ हैं, इसलिए वह किसी दोस्त की दावत मंज़ूर करने से बहुत घबराता है। पहले तो कोई बहाना कर देगा, वरना दावत के दिन बीमार पड़ कर नर्सिंग होम में चला जायेगा और उस वक़्त तक वापस नहीं आयेगा, जब तक दावत देने वाले की पत्नी मायके नहीं चली जाती।

ख़ूबसूरत औरत उसकी पहली और आख़िरी कमज़ोरी है। लेकिन वह अक्सर ठंडी आह भर कर कहता है, "इस दुनिया में ख़ूबसूरत औरत है कहाँ?" ख़ूबसूरत औरत से उसका मतलब अक्सर उस औरत से होता है, जिसे देखकर ग़ालिब के शे'र, बिथोविन के संगीत और यूनानी मूर्तियों की याद ताज़ा हो जाय। ज़िन्दगी में हमेशा उसे उस आदर्श औरत की तलाश रही है। अक्सर उसने कश्मीर की अल्हड़ कुमारियों में, बम्बई की शोख़ और चंचल तितलियों में उस औरत की हल्की-सी झलक देखी है। लेकिन वह औरत, जो ख़ैयाम की रुबाई से ज़्यादा ख़ूबसूरत और सुब्हे-बनारस से अधिक आकर्षक हो, उसे आज तक नहीं मिली। यही उसकी ज़िन्दगी की सबसे बड़ी

ट्रेजिडी है। ज़िन्दगी में उस आदर्श युवती को पाने से निराश होकर उसने अपनी कहानियों में हज़ारों 'ज़ेनियों', 'आँगियों' और 'रेशमाओं' की रचना की है, लेकिन वह 'ज़ेनी' जिसे प्राप्त करने के लिए शायद वह कश्मीर की घाटी बेचने के लिए भी तैयार हो जाय, हमेशा दूर से उसको मुँह चिढ़ाती रही, मानो कह रही हो, "तुम व्यर्थ ही इस संसार में मेरी खोज में भटक रहे हो। मेरा निवास तुम्हारी कल्पना के अतिरिक्त और कहीं नहीं है।"

हवाई क़िले बनाना उसका सबसे प्यारा शौक़ है। आज से पच्चीस बरस पहले जब वह लाहौर के एक घटिया होस्टल में रहता था तो तरह-तरह के ख़याली पुलाव पका कर दिल के ग़म को भुलाया करता था। कभी सोचता था कि राजनीति के मैदान में कूद पड़ूँ और पलक झपकाते राजनीति की बिसात को उलट कर रख दूँ।

उसने दो चार नहीं, बल्कि अनेक बार 'वर्कर' बनने की भी कोशिश की। वह मज़दूरों के जल्सों और जुलूसों में शामिल होता रहा, बल्कि एक बार तो उसने ताँगे वालों की हड़ताल को सफल बनाने की योजना भी तैयार की। लेकिन राजनीति उसके बस का रोग न था। क्योंकि वह उस हद तक तेज़ और गर्म नहीं था, जिस हद तक एक राजनीतज्ञ को होना चाहिए। उसके यहाँ इन भावनाओं के अतिरिक्त महत्वपूर्ण साधनों की भी कमी थी। उसके समव्यस्क मित्रों के पास मोटर कारें थीं और उसके पास टूटी-फूटी साइकिल भी नहीं थी। फल यह निकला कि राजनीति की दौड़ में वे उसे बहुत पीछे छोड़ गये।

और वह पुकार-पुकार कर कहता रहा, "तुमने अपनी ख़ूबसूरत मोटर कारों का नाजायज़ फ़ायदा उठाया। वरना तुम में आख़िर वह कौन सी बात थी, जो मुझमें नहीं है।" राजनीति के क्षेत्र में मात खाने के बाद उसने अपनी सहित्यिक सरगर्मियों को और भी तेज़ करने का निश्चय किया। 'इक़बाल' पर अंग्रेज़ी में थीसेस लिख कर पंजाब यूनिवर्सिटी से पी० एच० डी० की डिग्री प्राप्त करने का मंसूबा बाँधा। लेकिन इसे इक़बाल का सौभाग्य समझिए

था कृष्णचन्द्र का कि पंजाब यूनिवर्सिटी ने उसे थीसेस लिखने की इजाज़त नहीं दी।

इस घटना के बाद उसने वह सब कुछ किया, जो उसे नहीं करना चाहिए था। पेशा-वर अध्यापक के रूप में लड़कियों को पढ़ाता रहा। एक साप्ताहिक प्रगतिशील पत्र का सहायक-सम्पादक बना। औरतों के लिए अंग्रेज़ी में एक पत्रिका निकाली। मुक़ाबिले की परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थियों के लिए पुस्तकें तैयार कीं। सारांश यह कि सरकस की नौकरी और सिक्रेटेरियट की क्लर्की के अतिरिक्त उसने अपनी सेवाएँ प्रत्येक पेशे के लिए अर्पित कर दीं। उस समय उसकी हालत उस नाविक के समान थी, जो भँवर से निकलने के लिए पागलों की तरह हाथ मार रहा हो, लेकिन जिसे इस बात का पूर्ण विश्वास हो कि वह डूब कर रहेगा। इन प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद वह हिन्दू होस्टल के कमरा नं० ४४ में बैठ कर हवाई क़िले बनाता रहा। "तुम मुझ पर हँसते हो," वह कई बार अत्यन्त विश्वास के साथ अपने दोस्तों से कहता, "लेकिन मैं तुम्हें बता देना चाहता हूँ कि एक दिन इसी लाहौर की माल रोड के सीने पर मेरी मोटर दनदनायेगी।" और आज जब बम्बई की सड़कों पर उसकी मोटरकार फ़र्राटे भरती हुई गुज़रती है तो उसे ऐसा लगता है मानों वह सड़क पर नहीं, बल्कि उसके उन दोस्तों की छातियों पर दनदना रही है, जो उसकी हँसी उड़ाया करते थे।

'निश्चिन्तता' और 'रुपया' इन दो चीज़ों की उसे उम्र भर खोज रही है। वह इन दोनों को एक कलाकार के लिए ज़रूरी समझता है। हिन्दू होस्टल में वह अक्सर भाषण देने के अन्दाज़ से भारतीय साहित्यकारों की दुर्दशा के सम्बन्ध में कहा करता था, "भूखे साहित्यकार ख़ाक साहित्य सृजन करेंगे। इनके पेट भूखे हैं, आत्माएँ भूखी हैं। इनसे श्रेष्ठ रचनाओं की कैसे आशा की जा सकती है? भाई, अगर तुम चाहते हो कि भारतीय साहित्यकार अमर साहित्य की रचना कर सके तो उसे रहने के लिए ख़ूबसूरत मकान दो, दो वक़्त खाना दो, सैर-तफ़रीह के अवसर प्रदान करो। साहित्य को पनपते देखना चाहते हो तो संसार की व्यवस्था को बदल दो और यह

व्यवस्था उस समय तक नहीं बदली जा सकती, जब तक पूँजीपतियों की नींदें हराम न हो जायें। भला इस जागीरदारी व्यवस्था में भारतीय साहित्यकार की इज़्ज़त क्या है? उसे खाने को अंगूर नहीं मिलते, बेहतरीन क्या मामूली शराब नहीं मिल पाती। वह हवा पर पलता है। क्या हवा पर पलने वाला ठोस और जीवन्त साहित्य पैदा कर सकता है? मैं पूछता हूँ..."

"हाँ मैं पूछता हूँ," वह धनिए मिश्र को सामने से आते हुए देख कर कहता, "मैं पूछता हूँ कि आज किचन में क्या पका है?" और धनिया मिश्र एक ही साँस में एक जानी-पहचानी सूची दोहरा देता, "दाल जी, बैंगन जी, प्याज़ जी, अचार जी, चटनी जी!"

और यह दुखद समाचार सुन वह खाना खाने की बजाय लहू के घूँट पीकर रह जाता। हिन्दू होस्टल की राख से लथपथ रोटियाँ, बैंगन की भाजी, प्याज़ और अचार उसे अब भी जब याद आते हैं तो उसके शरीर में कँपकँपी दौड़ जाती है। लेकिन यह हक़ीक़त है कि हिन्दू होस्टल के गन्दे और दुर्गन्ध-युक्त वातावरण और उसके किचन में बने हुए निकृष्टतम भोजन ने उसे समाज के विरुद्ध विद्रोह करने पर उकसाया और उसे सोचने समझने पर मजबूर किया कि इन रोटियों से राख उतारने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि प्राचीन व्यवस्था की केंचुली उतार दी जाय।

निश्चिन्तता और रुपये की खोज में वह कहाँ-कहाँ नहीं भटका। उसने अपनी आत्मा का गला घोंट कर आल इंडिया रेडियो में नौकरी की। वह लाहौर से दिल्ली और दिल्ली से लखनऊ पहुँचा, लेकिन उसे उस विभाग में निश्चिन्तता मिली न रुपया। और वह जैसे-जैसे लाहौर से दूर होता गया, नरक के निकट आता गया। लाहौर से उसे इश्क़ था। दिल्ली और लखनऊ लाख सुन्दर नगर सही, उसके लिए पराये नगर थे। उसे अनेक बार महसूस हुआ कि वह एक जिलावतन की हैसियत से अजनबी और अनजान राहों पर भटक रहा है। उसकी आत्मा फ़रियाद करती रही कि मुझे वापस लाहौर ले चलो। लेकिन वह उसे लाहौर न ला सका। लाहौर की बजाय वह उसे पूना ले गया। जब पूना भी अनुकूल सिद्ध न हुआ तो उसने बम्बई का रुख़

किया। यद्यपि बम्बई उसकी मंज़िल नहीं थी, लेकिन वह इतना थक गया था कि उसने दम ले कर भी आगे चलने से इनकार कर दिया।

पहले-पहल बम्बई से उसे वहशत हुई, लेकिन वह धीरे-धीरे उससे हिल-मिल गया। और आज यह हाल है कि वह उस शहर को छोड़कर किसी दूसरी जगह जाना नहीं चाहता। वह कहता है "मैं अलिफ़ लैला के उस शाहज़ादे की तरह हूँ, जो खोये हुए तीर की खोज में घर से निकला था, मगर जिसे तीर के बदले शहज़ादी नूरुन्निहार मिल गयी थी।"

अब वह वारसोवा के एक बंगले में, जो समुद्र के किनारे स्थित है, रहता है। उसके पास एक सेकिन्ड हैंड कार भी है। उसके घर मेहमानों का ताँता लगा रहता है। वह तीन बच्चों का बाप और तीन दर्जन किताबों का लेखक है। प्रगतिशील लेखकों का नेता है। दो एक फ़िल्में भी डायरेक्ट कर चुका है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का मालिक है। लेकिन इन सब बातों के होते हुए भी उसके मन को शांति नहीं मिली। रात के समय जब समुद्र की लहरें उसकी कोठी की चार दीवारी से टकराती हैं तो उसे ऐसा लगता है जैसे उसकी आत्मा उसकी रूह की पीठ पर कोड़े बरसा रही है, और वह सोचने लगता है—ज़िन्दगी कितनी अजीब है। कितनी शातिर है यह ज़िन्दगी! ढीठ और ज़िद्दी माशूक़ की तरह हर आदमी से अपनी बात मनवाती है। अपनी कहे जाती है, दूसरों की नहीं सुनती। मैं क्या करना चाहता था, मैं क्या कर रहा हूँ। रुपया और निश्चिन्तता अब भी मुझसे कोसों दूर हैं। और साहित्यिक कलाकृति—क्या सचमुच मुझे कभी फ़ुरसत नहीं मिलेगी कि मैं दुनिया की चिन्ताओं से मुक्त होकर एक महान उपन्यास, एक महान नाटक, एक महान कलाकृति की रचना कर सकूँ।...और यह सोचते-सोचते उसकी ज़िन्दगी की फ़िल्म का एक-एक दृश्य उसकी आँखों के सामने फिरने लगता है। भरतपुर—जहाँ वह आज से ३७ वर्ष पहले पैदा हुआ; पूँछ, जहाँ उसका बचपन बीता; लाहौर—जहाँ उसकी जवानी और उमंगें परवान चढ़ीं; दिल्ली, लखनऊ—जहाँ उसने अपनी उम्र के तीन क़ीमती वर्ष नष्ट किये; पूना—जहाँ वह दो वर्ष डब्लू० ज़ेड० अहमद के नाज़ उठाता रहा; बम्बई, देविका

रानी, नेशनल स्टूडियो, सराय के बाहर, जहन्नुम के अन्दर...

और फिर उसे एक दम उन दोस्तों का ख़याल आता है, जो उसे ईर्ष्या या द्वेष की दृष्टि से देखते हैं। और वह एक ऐसी मुस्कराहट के साथ, जिस पर आँसू का धोखा होता है, कहता है, "काश, वो मेरी रूह में ही झाँक कर देख सकते, ताकि उनके कानों में उस नये प्रलय की हल्की-सी भनक पड़ती, जिसने मेरी रूह को तहो-बाला कर रखा है। काश..."

और 'रूसी क्राँन्ति' को पढ़ते-पढ़ते एक दम उसकी आँख लग जाती है और वह स्वप्न में देखता है कि भारत में भी क्रान्ति आ गयी है। लाल क़िले पर लाल झण्डा फहरा रहा है। हिन्दू होस्टल को डायनामाइट से उड़ा दिया गया है। उसके अधिकांश प्रकाशकों को काले पानी या फाँसी की सज़ा दे दी गयी है। उसके अनेक बेकार रिश्तेदार, जिनकी मदद करते-करते वह तंग आ गया था, खेतों और कारख़ानों में काम कर रहे हैं। सरकार अपने ख़र्च- से उसकी कृतियाँ छपवा रही है और उसे हर किताब पर इतनी रायल्टी मिलती है कि अनेक बार उसका जी चाहता है कि अब और लिखना बन्द कर दे।

और सुबह उठ कर वह 'मजाज़' के उदास चेहरे की ओर देख कर कहता है, "साथी! तुम उदास हो। मुझे यह अच्छा नहीं लगता। मुस्कराओ, इतना मुस्कराओ कि देवताओं के हाथों से कोड़े गिर पड़ें और वे तुम्हारी बेपनाह मुस्कराहट की ताब न लाकर नत-मस्तक हो जायें। मुस्कराओ मजाज़! बहार ज़रूर आयेगी। इन्क़लाब आकर रहेगा!"

राजेन्द्रसिंह बेदी

●●●

# बलवन्त सिंह

[ अपने दृष्टिकोण से किसी व्यक्ति के चरित्र के बारे में अपना मत प्रकट करना उस व्यक्ति के देहान्त के बाद ही ठीक जंचता है। यद्यपि पूरी और निर्दोष चीज़ वह भी न होगी, लेकिन इतना ज़रूर है कि उस समय तक उस व्यक्ति के चरित्र के सभी पहलू सामने आ चुके होते हैं....इससे पहले तो यही कहा जा सकता है कि मैंने अमुक व्यक्ति को अमुक अवसर पर कैसा पाया। ग़लत अथवा सही जो भी मेरी राय होगी, उसे छिपाने का प्रयास नहीं करूँगा ....यदि कोई महाशय बेदी को मेरे वर्णन से बुरा या भला पायें तो इसका दोष मेरे सिर न धरें....ग़रज़ देखिए अब यह पानी चला—लेखक। ]

सन् १९४२ की गर्मियों में लगभग साढ़े ग्यारह बजे ( बारह बजे नहीं ) हम दोनों सिख साहित्यिकों की पहली भेंट हुई। उस वर्ष मैंने बी० ए० की परीक्षा पास की थी। सख्त दिमाग़ी मेहनत के बाद मैं कुछ आराम कर रहा था कि जनाब शाहद अहमद का पत्र मिला। मालूम हुआ कि दिल्ली

में ऑल इण्डिया राईटर्स कान्फ्रेंस हो रही है और मैं भी निमंत्रित किया गया हूँ।

दिल्ली में कमेटी का एक बाग़ है और बाग़ में एक पुस्तकालय है। इस पुस्तकालय में ही कान्फ्रेंस होने वाली थी। स्थान काफ़ी रोमांटिक था। इस कारण पहले दिन ही जब मैं होटल से निकल कर गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ा तो निगाहें मार्ग से भटक कर इधर-उधर आवारा घूमने लगीं। सहसा एक तांगेवाला पुकार उठा, "बच कर चलिए, घोड़ा काट खाता है।"

मुझे ज़िन्दगी में पहली बार मालूम हुआ कि घोड़ा काटता भी है, मैं समझता था कि घोड़े केवल दुलत्तियाँ झाड़ा करते हैं। बिदक कर परे जो हटा तो कृष्णचन्द्र दिखाई दिये। अभी सम्हलने न पाया था कि सआदत हसन मंटो पर निगाह पड़ी। सूरत से ही प्रकट होता था कि इन्हें होमियोपैथी के दृष्टिकोण से गन्धक की एक ऊँची मात्रा की अपेक्षा है। और भी तरह-तरह की सूरतें दिखाई दीं। इनमें चौधरी नज़ीर अहमद भी थे जो 'अदबे-लतीफ़' के अंक इस तरह बाँट रहे थे जैसे ख़ुदा-रसीदा पीरों के मक़बरों पर भक्त लोग बताशे बाँटा करते हैं।

ठीक समय याद नहीं। साहित्यिक एक-एक करके एकत्र हो रहे थे। जब एक घंटा इन्तज़ार में ही गुज़र गया तो उपस्थित लोग कुछ परेशान होने लगे। अगर कोई और लोग होते तो ऐसी घबराहट में तितर-बितर होकर भाग खड़े होते, लेकिन साहित्यिकों ने बौखला कर....कार्यवाही आरम्भ कर दी।

लगभग सवा ग्यारह बजे पहली बैटक समाप्त हुई तो देखा कि कुछ मनचले अब तक चले आ रहे हैं। इनमें से एक 'मीरा जी' भी थे, जो सूरत से सपेरा जी मालूम होते थे, अर्थात लम्बे-लम्बे बाल और होंठों पर मूँछों की छाया। इनसे एक क़दम पीछे राजेन्द्रसिंह बेदी आ रहे थे।

हम दोनों ने एक दूसरे को देखा तो अनायास ही ठिठक कर खड़े हो गये। हम एक दूसरे के नाम से परिचित थे, लेकिन सूरत से नहीं पहचानते थे। शयाद मेरा ख़याल ग़लत हो, लेकिन मैं समझता हूँ कि हम केवल एक-

दूसरे की दाढ़ियाँ देख कर ही रुक गये। बेदी मुझे और मैं बेदी को संदेह की दृष्टि से देखता रहा। यहाँ तक कि किसी ने हमारा परिचय करा दिया। शायद् हम दोनों ने हाथ भी मिलाये, हमारे होंठों से कुछ रस्मी से वाक्य भी निकले और फिर ज़रा परे हट कर हम एक-दूसरे को घूर-घूर कर देखने लगे। एक ओर मैं, लक्का कबूतर की तरह अकड़ा हुआ और दूसरी ओर बेदी मन्दिरों-मस्जिदों में दाना चुगने वाले कबूतर के समान स्थिर। आख़िर वह मुस्कराने लगा। मैंने भी होंठों पर मुस्कराहट लाने का प्रयास किया। इन सब हरकतों का कारण शायद यह था कि हम एक-दूसरे से असाधारण रूप से प्रभावित हुए थे।

बाद में जब एक बार पहली मुलाक़ात का ज़िक्र आया तो बेदी ने कहा कि तुम्हारी सूरत और आकृति से कठोरता और खुरदरापन झलकता था। बेदी की आकृति की जो पहली प्रतिक्रिया मुझ में हुई, वह मुझे अब तक याद है। मुख पर कुछ गहरी रेखाएँ, जो किसी गहरे दर्द, बल्कि यातना की परिचायक थीं, होंठों पर हल्की-हल्की, लेकिन अत्यन्त कोमल और प्यारी मुस्कान। सबसे महत्त्वपूर्ण उसकी आँखें थीं—न बड़ी न चुँधी। न कृष्णचन्द्र की तरह स्वप्निल और धुँधली-सी, न सत्यार्थी की तरह चमकदार और जिज्ञासा भरी....बल्कि उसकी आँखें यों ही सहज-सी खुली हुई थी और उनमें प्रेम और कोमलता ऐसे टपक रही थी कि देखने वाले को आभास होता था, जैसे उस पर भगवान् की कृपा हल्की-हल्की फुहार की तरह पड़ रही हो। हमारी पहली मुलाक़ात कुछ क्षणों तक ही सीमित रही।

इस घटना के दो-तीन महीने बाद मैं एम० ए० की शिक्षा प्राप्त करने लाहौर चला आया। यहाँ मैं अपने एक सम्बन्धी के घर उतरा और फिर किसी छात्रावास में अथवा पृथक् निवास-स्थान की तलाश में नगर की गलियाँ नापने लगा।

इन्हीं दिनों एक बार जब कि मैं 'मकतबा-ए-उर्दू' के कार्यालय में बैठा था, वहाँ बेदी आ निकला। रस्मी अभिवादन के बाद बातों-बातों में उसे

जब यह पता चला कि मैं निवास-स्थान की खोज में हूँ तो उसने मेरी सहायता करने का वचन दिया। इस प्रकार हमारे सम्बन्ध घनिष्ठ होते चले गये। मुझे वे दिन कभी नहीं भूलेंगे जब बेदी, देवेन्द्र सत्यार्थी और मैं संत नगर, राम नगर और ऋषि नगर की गलियों में निवास-स्थान की तलाश में घूमा करते थे। किसी मकान का द्वार खटखटाते, जो भी कोई बाहर आता तो सत्यार्थी की दरवेशाना सूरत देख उसकी ओर आकृष्ट होता। सत्यार्थी की लम्बी दाढ़ी और मूँछों में से अतीव विनीत और सुरीली आवाज़ निकलती—

"जी....एजी—एक कमरा चाहिए—( मेरी ओर इशारा करके ) इन ब्रह्मचारी जी लिए—जी।"

वह हमें सिर से पाँव तक बड़े ध्यान-पूर्वक देखने लगता। मैं ज़रा मोटा-ताज़ा नज़र आता था और बेदी की सूरत से अतीव गम्भीरता और सौजन्य टपकता। अन्त में एक बार फिर वह सत्ययार्थी की फ़क़ीराना सूरत देखता और सोचने लगता कि शायद गुरु वसिष्ठ जी यहाँ ब्रह्मचारियों के लिए मठ खोलना चाहते हैं और इस बीच में यदि कोई रंगीन दुपट्टा उड़ता दिखाई देता तो सत्यार्थी आगे को झुक कर चहक उठते, "क्यों जी क्या यहाँ देवियाँ भी रहती हैं जी?....फिर तो कोई उम्मीद नहीं जी....हमारे ब्रह्मचारी जी....अच्छा फिर।"

आख़िर मुझे संत नगर में रहने के लिए स्थान मिल ही गया। मेरे आवास से करीब दो फ़र्लांग पर बेदी का पैतृक घर था। इन दिनों वह अपने कुटुम्ब सहित वहीं रहता था। बाद में जब उसकी आय बढ़ गयी तो उसे अचानक लगा कि वह मकान बहुत छोटा है, बच्चों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है। इस कारण वह मॉडल टाउन में एक छोटे-से बँगले में रहने लगा।

सिखों में बेदी वे लोग होते हैं, जिनका वंशक्रम गुरुनानक जी से जा मिलता है। ये लोग बहुत सात्विक जीवन व्यतीत करते हैं। प्रायः मदिरा,

मांस, जुआ इत्यादि त्याज्य वस्तुओं को त्याज्य समझते है। आरम्भ में बेदी भी बहुत सात्विक जीवन बिताता था। मांस तक से, जिसका सिखों में मुसलमानों की तरह अत्यधिक प्रचलन है, वह दूर रहता था। यह सब पहले की बातें थीं। जब मैं उससे मिला तो उसे पूरी तरह 'ईमान शिकन' (ईमान फ़रोश नहीं) पाया।

बेदी नाटे क़द का है, लगभग चौंसठ इंच। दुबला-पतला (अब स्थूल होता जा रहा है) छाता गोल अथवा अंडाकार, जिसे 'पिजन्स चेस्ट' (कबूतरी छाती) कह सकते हैं। रंग कलौसी लिये गेहुआँ—अब रक्त की अधिकता के कारण बिलकुल गुलाब जामुन। हाथों के पीछे यद्यपि बाल हैं, परन्तु खाल कोमल है। टाँगों और बाहों पर भी खूब बाल हैं। सिर और मुँह पर तो सदा बहार छाई ही रहती है। पहले वह दाढ़ी के बाल बाँध कर समेट लिया करता था। ठाड़ी से ज़रा हट कर नीचे की ओर बालों की एक गुठली लटकती रहती थी। एक दिन जब कि वह अपने एक खास मित्र के यहाँ बैठा हुआ था (शायद वह मित्र मैं ही था) दाढ़ी की वह गुठली ग़ायब कर दी गयी और वह अब तक ग़ायब है। उसका ललाट अधिक उन्नत नहीं है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि उसकी भौं और सिर के बालों के मध्य बहुत थोड़ा अंतर है। नाक पकौड़ा-सी। यदि संयोग से उसके मुख पर न लगी होती तो निश्चित ही बहुत भद्दी दिखाई देती। होंठ मोटे हैं, जिनका अधिकांश भाग मूँछों में छिपा रहता है। मैंने उसका एक चित्र प्रारम्भिक यौवन-काल का भी देखा है। इसमें वह बिलकुल हब्शी दिखाई देता है। गाल....गाल सिरे से ही नहीं है। उसके दाँत सफ़ेद, लेकिन कुछ बड़े-बड़े हैं। बाहर को निकले हुए अथवा ऊपर को उठे हुए बिलकुल नहीं। सामने के दाँतों में एक स्वाभाविक रूप से मैला है। कुल मिलाकर बेदी को देख कर आरम्भ में तीव्र सिकुड़न का अनुभव होने लगता था, जैसे बैंगन थाली में पड़ा-पड़ा सूख जाय।

मैंने उसके अंग-प्रत्यंग का जैसा वर्णन किया, उससे पाठक को यह संदेह हो सकता है कि वह कुरूप होगा। एक बार उसने स्वयं मुझसे यही प्रश्न

किया था, 'क्या मैं बहुत कुरूप दिखाई देता हूँ ?'

नहीं, हरगिज़ नहीं । इसलिए कि भगवान ने बिलकुल अवकाश के समय बचे-खुचे अंगों को इस सुदृढ़ता से संकलित किया है कि एकदम प्रशंसा करनी पड़ती है । वह सुन्दर नहीं, लेकिन उसकी आकृति अत्यन्त आकर्षक है ।

प्रायः बेदी गोष्ठी में धीमी आवाज़ और मन्द कोमल स्वर में बात-चीत करता है । बहुत धीरे-धीरे बोलता है । यह बात नहीं है कि वह प्रत्येक वाक्य आवश्यकता से अधिक सोच-सोच कर कहता है, बल्कि उसके बोलने के ढंग में एक संतुलन और व्यवस्था पाई जाती है ।

फ़िराक़ गोरखपुरी और बेदी में एक बात समान रूप से मिलती है । अपने ध्यान में खोये या गम्भीर बैठे हों तो एक दम इनकी अवस्था बहुत ज़्यादा दिखाई देने लगती है, पचास-साठ वर्ष नहीं, बल्कि सैंकड़ों-हज़ारों वर्ष ! लेकिन जैसे ही हँसते हैं तो उनके चेहरे पर एक दूध पीते बच्चे की सी मासूमियत और ताज़गी दिखाई देने लगती है । एक अँधेरी रात में, जब कि हम दोनों खेतों में घूम रहे थे, मैंने उससे कहा, "बेदी कभी-कभी तुम बहुत बूढ़े दिखाई देने लगते हो ।"

एकदम उसके पैर रुक गये । उसने अजीब नज़रों से मेरी ओर देखा, "वाक़ई ?"

उसके मुख पर चिन्ता के चिन्ह प्रकट होने लगे । तारों के धूमिल प्रकाश में, जब कि वह सिर झुकाये खड़ा था, मुझे उसका व्यक्तित्व अनोखा-सा दिखाई देने लगा । क्षण भर रुकने के बाद उसने पुनः एक एक पग चलना शुरू कर दिया, "मेरी नसें कमज़ोर हैं," उसने कहा, "नसों की कमज़ोरी के कारण ही ऐसा होता है ।"

बेदी को अपनी गति-विधि पर पूरा नियंत्रण प्राप्त है । अपने हाथों, बाँहों, टाँगों, आँखों, होंठों यहाँ तक कि अपने मुख की रेखाओं पर भी उसे पूरा नियंत्रण प्राप्त है । उसके मस्तिष्क और शरीर में एक अद्भुत संतुलन स्थापित हो गया है । वह अपनी परिसीमाओं से भली-भाँति परिचित है । उसने उनके विरुद्ध युद्ध की घोषणा नहीं कि, बल्कि सम्मान-जनक समझौता कर

लिया है। लेकिन मानसिक दृष्टिकोण के साथ शरीर का सामंजस्य तथा संतुलन एक बड़े संयम का परिचय देता है, जैसे बेदी वर्षों चेतन और अचेतन रूप से अपने-आपको इसके लिए तैयार करता रहा हो। वह छोटे-छोटे क़दम उठा कर बड़े बाँकपन से चलता है। मुझे आशा है कि उसके मित्रों, बल्कि उसके परिचितों का भी उसके पैरों की चाल, बल्कि डगों पर ज़रूर ही ध्यान गया होगा।

इन सब के बावजूद मित्रों की गोष्ठी में वह अजीब तरह का खिलंदरा और दोस्त-नवाज़ आदमी दिखाई देता है।

वह छोटे से बच्चे की तरह चपल, चुलबुला और शरीर है। हँसी-मज़ाक़ का शौक़ीन, आवारा घूमने का सौदाई, बकवास करने का प्रेमी और मित्रों के लिए रुपया खर्च करने में फ़िजूल खर्ची की सीमा तक विशाल-हृदय।

कृष्णचन्द्र ने एक स्थान पर उसे झील के सामान गहरा बताया है, लेकिन वह झूम कर उठी हुई घटा के समान ऊँचा भी है। शायद कृष्ण से बेदी की अंतरंग मित्रता नहीं रही है, वरना वह बेदी की अथाह, निर्बाध, स्वच्छन्द और छलकती हुई ज़िन्दादिली पर गम्भीरता और बड़प्पन का मोटा आवरण न डाले रहता। उसके प्रत्येक हाव-भाव में एक चुलबुलापन, प्रत्येक अदा में एक बाँकपन और प्रत्येक बात में एक नयापन उसकी दृष्टि से छिपा न रहता। बात-बात में इतना चांचल्य और बिलकुल बच्चों जैसे कामों में उसकी प्रखर प्रतिभा, कुछ इस प्रकार समोई हुई है कि बयान के लिए शब्द नहीं मिलते।

अन्य बातों के अतिरिक्त वह विभिन्न व्यक्तियों की हँसी की नक़ल उतारने में बहुत कुशल है। धूम मचाते हुए ढोल की हँसी, कंकरों में बहते हुए पानी की तरलमय आवाज़ की सी हँसी, थैले में गुम होती हुई हँसी, कहने का मतलब यह कि उसे विभिन्न प्रकार की हँसियों की नक़ल उतारने में पूर्ण निपुणता प्राप्त है। उपेन्द्रनाथ अश्क की हँसी की नकल मुझे सबसे अधिक पसन्द आयी। इतनी भयानक और अमानवीय हँसी पहले

सुनने का कभी अवसर नहीं आया था। कभी रात के सन्नाटे में साइकिल पर गोल बाग़ (लाहौर) से गुज़रते हुए मैं कहता, "बेदी मुझे साइकिल चलानी पड़ रही है और तुम मज़े में बैठे हो। कम से कम कोई हँसी ही सुना डालो।"

इस पर बेदी राग विद्या के पण्डितों की तरह सिर हिला कर पूछता, "अच्छा तो कौन-सी हँसी सुनोगे?"

मैं 'अश्क' के क़हक़हे की फ़रमायश करता। जब वह एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा कर फेफड़ों की पूरी शक्ति से क़हक़हा उड़ाता तो अवश्य ही खंडहरों में हूँकनेवाले उल्लू डर जाते होंगे और वृक्षों की टहनियों से लटकी हुई चिमगादड़ों की पकड़ ढीली पड़ जाती होगी।

उसकी साइकिल का उल्लेख आ गया तो उसका वर्णन भी कम दिल-चस्प न होगा। लेकिन कठिनाई यह आ पड़ी कि श्री गणेश कहाँ से करूँ। हैण्डिल-पैडिल, रिम, फ्रेम, टायर, ट्यूबें गद्दी प्रत्येक वस्तु ढचरा। गद्दी आगे, पीछे, दायें, बाँयें, ऊपर, नीचे हर तरफ़ झूमती-झुकती थी। इस अनोखी गद्दी पर जमे रहना बस बेदी का ही काम था। ब्रेक और घंटी एकदम ग़ायब और फ्री व्हील भी काम न करता था। पैडिल घुमाये जाइए, ज़ंजीर पकड़ ही न करती थी। बेदी कहता, "जब मैं साइकिल पर बैठ कर एक ही स्थान पर खड़े-खड़े तेज़ी से पैडिल घुमाता हूँ तो रास्ता चलनेवाले रुक कर आश्चर्य करने लगते हैं कि आखिर जब पैडिल घूम रहे हैं तो पहिये क्यों नहीं चलते। वे समझते हैं कि मैं गिर पड़ूँगा मगर उनके देखते-देखते ज़ंजीर पकड़ करती है, पहिया घूमने लगता है और मैं चल देता हूँ....।"

इसी प्रकार व्यावहारिक जीवन में भी दर्शकों ने समझा था कि बेदी गिरा, गिरा! लेकिन वह उनके देखते-देखते यह जा, वह जा....(अहा!)

बेदी परले सिरे का घुमक्कड़ भी है...मान लीजिए मैं संत नगर वाले कमरे में बैठा-बैठा तंग आ जाता हूँ। सोचता हूँ कि चलो आज शहर की

किताबों की दुकानों का ही चक्कर लगा लें। साइकिल उठाता हूँ, कुछ दूर जाता हूँ कि सामने से बेदी साइकिल पर सवार आता दिखाई देता है। नज़रें मिलते ही हम एक-दूसरे को ललकारते हैं। अभिवादन अथवा हाथ मिलाने की नौबत नहीं आती। मैं पूछता हूँ, "किधर को?"

"तुम्हारी तरफ़।"

"मेरी तरफ़!" और फिर मैं सोचने लगता हूँ कि अगर संयोग से भेंट न होती तो? परन्तु अब इसकी क्या चिंता, हम साथ-साथ चल देते हैं। गोल बाग़ में एक बेंच पर जा बैठते हैं। बेदी ने दो नयी कहानियाँ लिखी हैं—'नामुराद' और 'कोखजली'। वह पढ़ता है, मैं सुनता हूँ। फिर कॉफ़ी हाउस में जाते और ठंडी कॉफ़ी पी कर लौट आते हैं। थोड़ी देर बातें करते हैं कि वर्षा होने लगती है। एक बार फिर कॉफ़ी हाउस में जाते हैं, अबकी गर्म काफ़ी पीते हैं। शाम हो जाती है और हम सर गंगाराम की प्रतिमा के निकट पड़ी हुई बेंच पर जा बैठते हैं, यहाँ तक कि रात हो जाती है...बातें-बातें-बातें...जब वह लौटने लगता है तो मुझे भी घर (माडल टाऊन) ले जाता है। हम काम की बातें बहुत कम करते हैं। साहित्य, दर्शन, मनोविज्ञान, राजनीति इत्यादि पर बहुत कम बात-चीत होती है। हमारी बात-चीत गम्भीरता से बिलकुल दूर और बे-सिर-पैर की होती है। इस प्रकार घंटों बातें किये चले जाते हैं, लेकिन थकान का अनुभव नहीं करते।

भेंट होते ही बेदी मुस्करायेगा। एकाध फब्ती कसेगा या कहेगा एक लतीफ़ा सुनो। "एक दिन अकबर सोकर जागा तो उसने बरामदे में से देखा कि मुल्ला दो प्याज़ा...।" इस प्रकार बात-चीत के शुरू में ही वह एक मोहक वातावरण उत्पन्न कर लेता है। एक दिन मुझसे मिलने के लिए आया। उस समय वह जल्दी में था। मुझे दो-चार मज़ेदार बातें सूझ गयीं, जिन्हें सुनकर वह बहुत हँसा और प्रसन्न हुआ। संयोग से उसे कोई बात न सूझी तो शीघ्रता से उठते हुए बोला, "अच्छा यार अब चलता हूँ। कहीं ऐसा न हो कि ऐसी मज़ेदार बातों के बाद जो आज तुमने संयोग

से कह डाली हैं कोई ऐसी बात कह दो जिससे इनका मज़ा भी किरकिरा हो जाय।"

एक बार मैं बहुत सख्त बीमार पड़ गया। इस विचार से कि अकेले में मुझे कष्ट न हो, वह मुझे माडल टाऊन में अपने घर ले गया। बीमारी में पहला मकान हाथ से निकल गया और स्वस्थ होने पर नये मकान की खोज की तो वह मिला नहीं और विवश हो कर मुझे वहाँ दो-तीन महीने रहना पड़ा। आखिर जब मकान मिल जाने पर मैं उससे विदा हुआ तो हाथ मिलाते हुए हँस कर बोला, मेहमान के आने की प्रसन्नता तो खैर होती ही है, लेकिन उसके चले जाने से जो आनन्द मिलता है, उसका अनुमान तुम कर ही नहीं सकते।"

बेदी को दो बातों से विशेष रूप से चिढ़ है। एक तो समय की पाबन्दी और दूसरे कसरती गठीला शरीर।

शुरू में उसकी पहली लत के कारण मुझे बहुत परेशानी उठानी पड़ी। बेदी ने अपनी इस लत के पक्ष में कभी कोई तर्क उपस्थित नहीं किया, बल्कि सदा खेद ही प्रकट किया। लेकिन इस लत के पीछे छिपे गुण और सौंदर्य के क्या कहने! वह किस प्रकार ठोस अलबेलेपन के साथ ज़िन्दगी जी रहा था। आखिर समय की पाबन्दी क्यों हो? मान लीजिए कि घर में मुन्ना पहला बार काँपती टाँगों पर खड़ा हो जाता है तो कैसा शान-दार तमाशा होता है। बड़े बच्चे तालियाँ बजा-बजा कर शोर मचाने लगते हैं—'मुन्ना खड़ा हो गया, मुन्ना खड़ा हो गया।' उधर प्रातःकाल की धूप चमक रही है, हवा में कुछ ठण्डक है...और पत्नी काम-धंधे में इधर-उधर घूम रही है। एक दम पति को अनुभव होता है कि उसने कई दिन से पत्नी की ओर ध्यान ही नहीं दिया, जब कि पत्नी पहले की अपेक्षा अधिक आकर्षक हो गयी है अथवा यदि मनुष्य स्टूल पर बैठा आगे-पीछे झूल रहा है, भविष्य की मधुर कल्पना ही सही, भूतकाल के किसी हृदय लुभानेवाले क्षण की स्मृति ही सही, कोई छोटा और सुन्दर रंगमहल ही सही, तो क्या

मनुष्य इन मोहक वस्तुओं से मुँह मोड़ कर इसलिए चल दे कि उसने किसी व्यक्ति को निश्चित समय पर मिलने का वचन दे रखा है....समय की पाबन्दी के कारण हमारे जीवन से कमनीयता और कोमलता तिरोहित हो चुकी है है और उनका स्थान खुरदरेपन और कठोरता ने ले लिया है। वह संसार कितना सुन्दर था, जब निकटवर्ती मित्र एक-दूसरे से निश्चित समय पर मिलने का वायदा नहीं किया करते थे और फिर जब नदी के तट पर गीली रेत में लोटते हुए, अथवा ख़रगोशों के पीछे कुत्ते दौड़ाते हुए अथवा अपनी प्रेमिकाओं की स्मृति में कोई गीत गुनगुनाते हुए अकस्मात् किसी अंतरंग मित्र से उनकी भेंट हो जाती थी तो फिर उन्हें विदा होने की जल्दी न होती थी। उन्होंने किसी से निश्चित समय पर मिलने का वायदा न किया होता था। समय की पाबन्दी मशीनी युग का अभिशाप है। फिर भी कुछ महान आत्माएँ सृष्टि के आदिकाल से मनुष्य के हृदय में दबी हुई इस स्वस्थ उमंग की पुकार अनजाने में ही सुन लेती हैं।

बेदी की इस प्रकार की आदतें इतनी पुष्ट और 'विशुद्ध' हैं कि वह स्वयं उनकी व्याख्या नहीं कर सकता।

मुगदर, डंड़ बैठक से बेदी को कोई लगाव नहीं। लेकिन वह ऐसे खेल-कूद का शौक़ीन है जिसमें न केवल हाथ-पाँव खुलते हों, बल्कि हृदय को बिलकुल स्वाभाविक प्रसन्नता प्राप्त होती है। नहर पर नहाता है तो बेदरेग़ छलाँगे लगाता, डुबकियाँ खाता चला जाता है।

हमें हँसी मुफ़्त में मिली थी और हम उसे मुफ़्त ही में लुटाया करते थे। अगर किसी मनुष्य के निकट व्यक्तिगत रूप से हँसी का कोई महत्व है तो वह यह है कि वह दुख के समय उसका सहारा ले सके। विषम परि-स्थितियों में हँसना आसान हो जाता है। मनुष्य उसकी शरण लेने के लिए कोई-न-कोई बहाना ढूँढ़ लेता है। केवल अनुकूल परिस्थितियों ही में मनुष्य हँसने से बचने लगता है। वह इसका मूल्य निश्चित कर देता है और अहं की भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि मनुष्य समाज की सम्मिलित प्रसन्नता में एक मुस्कराहट तक मुफ़्त शामिल करने को सहमत नहीं होता।

हँसी पर वह मुहर भी नये-नये सिद्धान्तों की देन है। किसी-न-किसी स्वयं उद्भूत विचार के प्रभाव में अहं का भाव उत्पन्न हो जाता है और अपने इस अहं को अधिक पुष्ट करने के लिए मनुष्य से जो बन पड़ता है, करता है। दूसरी बातों के अलावा एक बात यह भी पैदा हो सकती है कि मनुष्य शारीरिक शक्ति को प्राकृतिक साधनों द्वारा निरर्थक सीमा तक बढ़ाने का प्रयत्न करने लगे। अतः शरीर के असाधारण रूप से फूले दंड इत्यादि स्वास्थ्य के नहीं, बीमारी के चिन्ह हैं। केवल स्वास्थ्य-विज्ञान के दृष्टिकोण से भी यह बात ठीक नहीं है। शायद इन्हीं बातों को सोच-समझ कर सूझ-बूझ रखने वाले हिन्दू ऋषियों ने योगासन निकाले और उन्हें प्रचलित किया। कभी-कभी भय और मानवीय न्याय में अविश्वास के कारण भी मनुष्य की प्रवृत्ति ग़लत मार्ग पकड़ लेती है। इस दोष का प्रमुख कारण यह है कि पार्थिव उन्नति की अपेक्षा नैतिक विकास की चाल बहुत धीमी रही है। किसी भी विकसित और सभ्य समाज में गर्दन के बेहूदा तनाव, पट्ठों का अकड़ाव, असाधारण रूप से चौड़ा सीना अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। इसके विपरीत स्वस्थ, निर्दोष, पुष्ट, सुघड़ अंगों वाला शरीर अवश्य ही अपेक्षा की दृष्टि से देखा जायगा। शरीर सीधा होना चाहिए, न ऐंठा हुआ न ढीला ढाला, बल्कि संतुलित और सम्हला हुआ।

एक बार बेदी ने अपने विशिष्ट ढंग से मुस्कराते हुए बताया, "अभी उस दिन चलते-चलते मैंने कसरती शरीर वाले एक मित्र के बाज़ू पर हाथ रख दिया। उसने एक झटके से दंड को फुलाया। मैंने उसे धीरे से थामे रखा। थोड़ी देर बाद वह बेचैनी सी महसूस करने लगा। अब वह इस बात की बाट जोह रहा था कि मैं हाथ हटा लूँ ताकि वह बाज़ू ढीला छोड़ सके।"

वास्तव में मनुष्य अस्वाभाविक दशा में अधिक देर तक नहीं रह सकता।

यों हम तीन-तीन चार-चार दिन निरन्तर साथ रहे हैं, लेकिन जिन दिनों मुझे बीमार हो कर उसके घर जा कर रहना पड़ा, मुझे उसके जीवन

को बहुत निकट से देखने का अवसर मिला।

इन्हीं दिनों की एक घटना है कि हम घर से गोश्त लेने के लिए निकले। दुकान उसके बँगले से डेढ़-दो मील दूर थी और रास्ते में खेत भी पड़ते थे। लौटते हुए खेत के किनारे एक बड़े-से पेड़ को देख कर हम दोनों ने सलाह की कि इस पर चढ़ें। सो रुपये ज़मीन में गाड़ दिये गये, गोश्त की पोटली पेड़ की टहनी से लटका दी और फिर 'दाना-ो-दाम' तथा 'ग्रहण' का प्रसिद्ध कथाकार, चार बच्चों का बाप और एक बाज़ब्ता पत्नी का पति राजेन्द्रसिंह बेदी मेरे देखते-देखते बन्दर की-सी फुर्ती के साथ पेड़ पर चढ़ गया। उसके साथ-साथ मैं भी था, लेकिन हल्का-फुल्का बेदी चोटी की कोमल टहनियों पर, जहाँ मेरा पहुँचना कठिन था, झूल-झूल कर मेरा मज़ाक़ उड़ा रहा था।

शाम के समय उसका छोटा भाई हरबंस सिंह और मैं जब सैर के लिए निकलते तो बेदी मेरी पीठ पर एक घूँसा मार कर अपने भाई को सम्बोधित करते हुए कहता, "देख मैंने इसकी पीठ पर घूँसा जमाया है, लेकिन यह मुझे हरगिज़ कुछ न कहेगा। कारण? मैं इसकी अपेक्षा दुर्बल हूँ न, इसलिए मुझसे उलझना इसकी शान के ख़िलाफ़ है।" यह कह कर एक धौल और जमा देता और स्वयं हर संकट से सुरक्षित साथ-साथ चला जाता।

मेरे विचार में बेदी का घरेलू जीवन मधुर है। यद्यपि यह सत्य है कि श्रीमती बेदी पढ़ी-लिखी नहीं, लेकिन उनमें सुघड़ गृहिणी के अन्य गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं।

एक स्थान पर बेदी ने लिखा है कि उसके पिता जितने रूपवान थे, उसकी माता उतनी ही कुरूप थीं। अब मामला कुछ उसके विपरीत ही समझना चाहिए।

श्रीमती बेदी घर के काम-काज में कठोर से कठोर परिश्रम से नहीं कतरातीं। बेदी स्वभाव से ही विश्राम-प्रिय व्यक्ति है। शायद परिश्रम का अभ्यास उसने अपनी श्रीमती से ही सीखा है। बेदी के मित्रों में अच्छे-अच्छे व्यक्तियों की कमी नहीं, लेकिन साथ ही उन बेकार और फ़ालतू मित्रों की

भी कमी नहीं, जिन्हें पंजाबी भाषा में 'लबड़ कट्टे' कहते हैं अर्थात खाना-पीना अजब और काम करना ग़ज़ब। उसका सबसे अयोग्य और बोझिल प्रकार का मित्र मैं था। प्रायः घरों में देखा गया है कि पति तो बड़े चाव से मित्रों को निमंत्रित करते हैं और पत्नी नाक-भौं चढ़ाती हैं। लेकिन मैंने श्रीमती बेदी के तेवर में कभी बल नहीं देखे। यदि मुझ जैसे अतिथि को भी तेवरों में बल डाले बिना सहन किया जा सकता है तो फिर कोई उनके लए कठिनाई का कारण नहीं बन सकता। जब मैंने बेदी से यह बात कही तो बोला, "हाँ यदि मैं घर में सब आवश्यक वस्तुएँ लाकर रख दूँ तो मेरी श्रीमती मित्रों के आने पर कोई एतराज़ नहीं करतीं।"

एक दिन किसी बात पर पति-पत्नी में झगड़ा हो गया। उस दिन रोटी भी न पकी और बेदी दफ़्तर चला गया। मैं घर पर अकेला रह गया और कुछ न सूझा तो कान दबा कर बाज़ार से रोटी खाई, दिन भर घर में घुसने का नाम न लिया। शाम के समय सब की दृष्टि से बचता हुआ ड्राइंग-रूम में घुस कर बैठ गया, देखा कि बेदी अभी तक घर न लौटा था। मैं फिर भाग जाने की चिंता में था कि श्रीमती बेदी आयीं और कहने लगीं, "आज घर में झगड़ा हो गया था, लेकिन आप यह न सोचिएगा कि झगड़ा घर में आपकी मौजूदगी के कारण हुआ है। आप दिन भर से भूखे होंगे, आइए अब खाना तैयार है, खा लीजिए।"

श्रीमती बेदी कुशाग्र बुद्धि अवश्य हैं, किन्तु आचार की यह श्रेष्ठता और हृदय की कोमलता कदाचित बेदी की शिक्षा का परिणाम है। एक बार बेदी का अतिथि बनने के बाद फिर किसी और का अतिथि बनने को दिल नहीं चाहता।

बेदी घरेलू जीवन में बहुत व्यस्त रहता है। यदि कभी नौकर न हो तो कई छोटे-मोटे काम भी उसे स्वयं ही भुगताने पड़ते हैं। कभी-कभी मैं आश्चर्य करने लगता हूँ कि इतने उत्तरदायित्व निभाने के बाद भी वह लेखन के लिए कैसे समय निकाल लेता है। जिन दिनों मैं बेदी के ड्राइंग

रूम में सोया करता था तो कभी-कभार जब मुँह-अँधेरे आँख खुलती तो देखता कि वह टेबिल लैम्प जलाये लिखने में व्यस्त है। मैं काग़ज़ों, समाचारपत्रों, पत्रिकाओं और पुस्तकों के ढेर में बैठकर जाँघ पर क़ाग़ज़ रख कर लिखता हूँ, लेकिन बेदी मेज़ के आगे बैठ कर लिखता है। यद्यपि वह बहुत लापरवाह व्यक्ति है, लेकिन दवात का ढकना बन्द करने का वह इतना पाबन्द है कि यदि एक मिनट के लिए भी जाना पड़े तो वह दवात को बिना ढके छोड़ कर नहीं जाता। कहानियाँ लिख-लिख कर फाड़ डालता है। फ़लाबियर की तरह पांडुलिपि को बार-बार काटता-छाँटता और अन्त तक कोई न कोई संशोधन करता रहता है।

उसे बहुत जल्द उठने का अभ्यास है। सर्दियों में तीन-चार बजे तक अवश्य ही उठ बैठता। घर के शेष व्यक्ति सोये पड़े होते। वह लड़ाकू बटेर की तरह बिफर कर मेज़ के सामने जा बैठता। उस समय उसकी आँखों की कोरों में कीचड़ लगी होती। ढीली-ढाली कमीज़ के सारे बटन खुले होते। सिर पर बालों का जूड़ा एक ओर को झुका हुआ, दाढ़ी अस्त-व्यस्त, गुद्दी के बाल घूम कर घोड़े के अयाल के समान गर्दन पर गिरे होते।

जब घर के लोग जाग उठते तो बेदी 'अफ़साना निगारी' छोड़ कर ज़िन्दग़ी की वास्तविकताओं की ओर पलटता। सूर्य निकलता तो उसे घर से मील भर की दूरी से दूध लाने की सूझती। जाने से पहले वह ड्राइंग रूम में आता, उसका छोटा भाई हरबंस सिंह और उसका मित्र कमरे में बैठे होते....मैं हरबंस सिंह को भी पसन्द करता हूँ। वह उसका छोटा-सा मुँह, छोटी-छोटी आँखें, छोटी-छोटी दाढ़ी और छोटी-छोटी बातें और इन सब पर तुर्रा यह कि दबाने के लिए छोटा-सा टेंटुआ....तो बेदी सर्दी से सिकुड़ता हुआ आता। सोचता कि नौकर भाग गये, मुझे प्रत्येक दिन दूध लेने के लिए जाना पड़ता है। सम्भव है कि आज इन 'लबड़ कट्टों' में से किसी को ध्यान आ जाय और वह स्वयं ही कह दे कि लाओ बेदी आज मैं दूध ले आता हूँ। हरबंस सिंह फर्श पर लेटा उपन्यास पढ़ने में तल्लीन होता। वह कट्टर साहित्यिक श्रेणी का जीव, उससे निराश होकर बेदी मेरी ओर देखता।

मैं चुपचाप स्थिर सोफ़े पर बैठा होता। मेरे हाथ में पुस्तक होती न पत्रिका होती। सब कुछ जानते हुए भी चुप रहता, बिलकुल सुस्त, बेकार और नाकारा....बेदी की आकृति से ही प्रकट होता जैसे वह कह रहा हो, 'मैं जानता था....पहले ही जानता था,' और फिर बड़ी तेज़ी से चिमगादड़ के समान कमरे के तीन-चार चक्कर काटता और फिर अंत में कमंडल पकड़ कर चल देता।

लौट कर नहाता। दाँत अवश्य साफ़ करता। नियम से स्नान भी करता। मैं कभी दाँत साफ़ नहीं करता। बहुत कम नहाता हूँ—वह शीशे के सामने दाढ़ी बाँधने के लिए आ खड़ा होता। मेरी ओर देख कर मुस्कराता हुआ कहता, "यार! ख़ुदा ने क्या-क्या सूरतें बनायी हैं। एक तुम हो कि महीना भर से नहीं नहाये होगे, लेकिन मालूम होता है जैसे अभी नहा कर चले आ रहे हो। एक हम हैं कि अभी नहा कर चले आ रहे हैं, लेकिन सूरत से लगता है कि महीना भर से नहीं नहाये।"

मैं ख़ूब जानता हूँ कि वह मुझे ख़ुश करने के लिए बातें बनाता है—और मैं ख़ुश हो जाता हूँ।

बात-चीत ही में नहीं, पत्रों में भी उसका यह बेकिनार हास्य और चुल-बुलापन टपकता है।

एक बार वह मुझ से मिलने के लिए आया, मैं मकान पर नहीं था। एक पत्र छोड़ गया, जो इस प्रकार आरम्भ होता है—'तीन बार मिलने के लिए आ चुका, तीनों बार तुम नहीं मिले। तीन ही बार तुम पर ख़ुदा की ला'नत....।'

दिल्ली से मेरे नाम लिखी चिट्ठी को एक नज़र देखिए :

माई डियर बलवन्त सिंह,

एक छोटी-सी ख़ती लिखी थी तुम्हें, लेकिन पता नहीं क्या हुआ साली का, उल्टा मेरे ख़त का इन्तज़ार कर रहे होगे। तुम्हारा काम नहीं हो सका। सुनते हैं हिटलर 'अन्डर ग्राउन्ड' (ज़मीन के अन्दर) चला गया है

और इटली में १० लाख जर्मनों ने हथियार डाल दिये हैं। इसलिए सरकार कह रही है कि तुम अपने कलम डाल दो, यानी वह हमें निकालने की फ़िक्र में है। बहुत करूँ तो ६ माह (क्या मुद्दत है !) और अन्दर रह सकता हूँ। लेकिन मुझे दिल्ली रास न आयी। मुमकिन है कि एक महीने के अन्दर-अन्दर इस महकमे को छोड़ दूँ और आज़ाद भाले (फ़्री लैंसिंग) का काम शुरू कर दूँ।

दूसरी सूरत यह है कि फ़िल्मों में चला जाऊँ, लेकिन कोई बात पक्की नहीं हुई। अभी ज़ाईदन मसदर की सीग़ागरदानी नहीं कर पाया, लेकिन बाहर ही से बोल रहा हूँ। तुम्हें यक़ीन आये या न आये, मैं तुम्हें भूला नहीं। मुझे अपने आप से शिकायत है कि एक दोस्त था, उसका भी कुछ न हो सका। वापसी डाक से मुझे इत्तिला दो कि पोज़ीशन किस लम्बाई तक ख़राब है। भई हराम खाये जो तुम पर तरस खा रहा हो। मुझे पता है कि तुम इस तरस खाने को पसन्द नहीं करते और क़सम खाते हुए मैं हराम को हराम ही समझता हूँ, बल्कि हलाल को भी हराम, हराम को हलाल नहीं। हलाल को हराम नहीं और न ही हलाल को हलाल। मेरा मतलब साफ़ है।

जब से दिल्ली आया हूँ कोई मकान नहीं मिला—जिसके पास रहता हूँ उससे ताल्लुक़ात ख़राब हो जाते हैं। हालाँकि बक़ौल तुम्हारे मैं लोगों की बहू-बेटियों को लोगों की बहू-बेटियाँ ही समझता हूँ....।"

वह प्रत्येक मित्र, भाई, बहन, पत्नी और बच्चे की रग-रग से परिचित है। वह खूब अच्छी तरह जानता है कि अमुक व्यक्ति को मैं अमुक बात कहूँगा तो उस पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी। हँसी-मज़ाक़ के अवसर पर वह किसी का लिहाज़ नहीं करता। पत्नी से लेकर मित्र तक सब पर फब्तियाँ कसता है। व्यक्ति को ही नहीं, बल्कि सबके झुरमुट में बैठ कर एक साथ सब को प्रसन्न कर लेता है।

मान लीजिए सर्दियों की ऋतु है। दिन के ग्यारह बजे के समय हल्की गर्म धूप चमक रही है। घर के लोग अपने कामों में व्यस्त हैं। मैं लोहे की एक बहुत ही छोटी-सी कुर्सी पर, जो वास्तव में बेदी के मुन्ने की

मिल्कियत है, कूल्हा टेक कर बैठ जाता हूँ। मैंने अभी तक शरीर के चारों ओर कम्बल लपेट रखा है। सिर में एक जगह कुछ खुजली-सी होती है। उलझे हुए रूखे बालों में मैं उँगली घुसेड़ कर खुजाने लगता हूँ और सोचता हूँ कि अब बालों को धो डालना चाहिए, कहीं जुएँ न पड़ जाएँ। बच्चे आँगन में इधर-उधर भागते फिरते हैं। हरबंस समाचारपत्र पढ़ रहा है। श्रीमती बेदी एक अन्य अतिथि गृहिणी के साथ रसोई घर में बैठी हैं। ठीक इसी अवसर पर बेदी एक कच्छा पहने नंगे बदन भीतर वाले कमरे से निकलता है और मुझे दिखा-दिखा कर बिना उभरी मांस-पेशियों को टटोलता है जैसे कोई व्यक्ति अँधेरे कमरे में उस काली बिल्ली को तलाश करे जो वास्तव में वहाँ न हो। हमारी नज़रें मिलती हैं तो दिल के तार बज उठते हैं। वह भेड़ की नक़ल उतारते हुए बड़ी लय के साथ, 'बे' की आवाज़ निकालता है और मैं तुरन्त उत्तर में 'दे' की ध्वनि उच्चरित करता हूँ। दोनों ओर से यह आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगता है। बच्चे खेल छोड़-छाड़ कर हम बड़ों का मुँह तकने लगते हैं। हरबंस को समाचारपत्र पढ़ना दूभर हो जाता है....सुनने वालों को अनुभव होने लगता है जैसे संध्या की गोधूलि बेला में भेड़ों का बहुत बड़ा रेवड़ धूल उड़ाता गाँव को लौट रहा है....श्रीमती बेदी चूल्हे के सामने से उठ कर रसोईघर के दरवाज़े की चौखट के सहारे आ खड़ी होती हैं और हम बड़े-बड़े 'फ़साना निगारों' के कौतुक को आश्चर्य से देखती हैं। पड़ोस वालों का लापरवाह नौकर हमारी आवाज़ें सुनता है तो काम-काज छोड़ कर हमारे आँगन में आ जाता है। यद्यपि उसका गधापन इसी बात से स्पष्ट हो जाता है, लेकिन वह इसी पर सन्तोष नहीं करता, क्योंकि वह गधे की बोली बोल सकता है। अतः वह टाँगें चौड़ी करके खड़ा हो जाता है और मुँह उठा कर बिलकुल कुलीन गधे की तरह ढेंचू-ढेंचू की ध्वनि निकालने लगता है। महफ़िल और गर्म हो जाती है और प्रत्युत्तर में मैं मुँह से बिल्लियाँ लड़ाने लगता हूँ। इतने ज़ोर-शोर से जैसे वह लड़ते-लड़ते एकदम छत से नीचे आ गिरी हों। इस पर एक कोलाहल मच जाता है। बच्चों का शोर, हमारे अट्टहास, उधर गृहिणी

मारे हँसी के दरवाज़े के पीछे लोट-पोट इधर श्रीमती बेदी चूल्हे पर रखी दाल को ही भूल जाती हैं।

बेदी जीवन की कठोर वास्तविकताओं से उलझ चुका है। वह आवश्यकताओं की कठोरता और मनुष्य की सीमाओं से भली-भाँति परिचित है। वह शारीरिक, आर्थिक, आध्यात्मिक और मानसिक यातनाओं में डूब कर उभरा है। वह दूध पीते बच्चे की सरलता और विनय के साथ जीवन के अंधड़ों में दिलचस्पी लेता रहा है। अपने शैशव का उल्लेख करते हुए उसने लिखा है—हमारे घर में बहुत शोर मचता था। शोर, शोर, शोर। इसके बाद एकदम रात का सन्नाटा और भी बड़ा शोर प्रतीत होता था और अब तक बहुत बड़े अंधड़ के बाद वह शान्ति के इस अथाह सन्नाटे का अनुभव करने लगता है।

इस बेपनाह शोर और हंगामे के अतिरिक्त हम कितनी ही बार रात के सन्नाटे में निर्जन उद्यानों में भूमि को समतल करने वाले बेलचों पर बैठे रहे हैं और वह भी ऐसी एकाग्रता के साथ कि कई बार हमने एक ही उड़ान में अपने आपको अत्यन्त पावन लोक में विचरते पाया है। उस विनम्रता और आह्लाद को जो हृदयों पर छा जाता था, मैं अब भी अनुभव करता हूँ।

इस बात की सम्भावना है कि बेदी नीच, कमीना, शराबी और विलासी हो जाय। सम्भव है कि इबलीस (शैतान) उसका हाथ पकड़ कर उसे एक ऊँचे पहाड़ पर ले जाय और संसार के सब राज्य और उनका वैभव दिखाये और कहे, "अगर तू झुक कर मुझे सिजदा करे तो यह सब कुछ तुझे दे दूँगा।"[1] तो यह कोई नयी बात न होगी और इसके बावजूद बेदी अधिक देर तक सिजदे में भी न रह सकेगा, क्योंकि पूरब की बजाय पच्छिम से उदय होना स्वयं सूरज के सामर्थ्य के बाहर है। बेदी के सीने में पवित्र आग की चिनगारी मौजूद है। "अग्नि इस संसार की वस्तु नहीं। जब

१. **मत्ती की इंजील.**

संसार की प्रत्येक वस्तु तैयार हो गयी तो फिर अग्नि विशेष रूप से आकाश से लायी गयी।"[१]

किसी सुनसान रात में उसके निकट पहुँच कर कभी-कभी एक अद्भुत प्रकार की पवित्रता और पावनता का अनुभव होने लगता है। उसकी आँखों में ईश्वरीय ज्योति से भरपूर उदासी झलकने लगती है। उसकी अनुभव-परायणता प्राचीन मिश्री काहनों का स्मरण कराती है, जिनके सीने ईश्वरीय प्रकाश से देदीप्यमान थे अथवा उस विचारक की याद ताज़ा हो जाती है, जिसने उन तत्त्वों को अपनी दूरदर्शी दृष्टि से देख पाया हो, जो भावी मानव के कष्टों का कारण बनेंगे ! और फिर जैसे निर्जन बन में पुकारने वाले की आवाज़ सुनायी देती हो—

**"भगवान का मार्ग तैयार करो**
**उसके मार्ग सीधे बनाओ**
**प्रत्येक घाटी भर दी जायगी**
**और प्रत्येक पहाड़ तथा टीला नीचा**
**किया जायगा**
**और जो टेढा है सीधा**
**और जो उँचा-नीचा है समतल मार्ग बनेगा**
**और प्रत्येक व्यक्ति भगवान की मुक्ति देखेगा।"[२]**

●

१. मैक्स बीयरभूम। २. लूका अध्याय, ३, आयत ४, ५, ६ ।

## राजेन्द्रसिंह बेदी

●●●

# तुर्के-ग़मज़ाज़न

न् १९३६ की बात है, मुंशी प्रेमचन्द के देहान्त के सिलसिले में लाहौर के सस्थानीय होटल में शोक-सभा हुई।

मेरे साहित्यिक जीवन की शुरुआत ही थी। मुश्किल से दस-बारह कहानियाँ लिखी होंगी, जो साधारण कठिनाई के बाद धीरे-धीरे पत्र-पत्रिकाओं में स्थान पाने लगीं। हम नये लिखने वालों की पूरी खेप-की-खेप मुंशी जी से प्रभावित थी, इसलिए हम सब को लग रहा था, जैसे हमारा आध्यात्मिक पिता हम से बिछुड़ गया है। इसी कारण अपना ग़म दूसरों को दिखाने और दूसरों के ग़म को अपना बनाने के लिए मैं भी सभा में पहुँच गया। एक खयाल यह भी था कि प्रेमचन्द के उचित और असली उत्तराधिकारियों से मिलेंगे, जिनसे अप्रत्यक्ष परिचय तो था, लेकिन साक्षात्कार न हुआ था।

सभा का कार्यक्रम आरम्भ हुआ। कम ही ऐसा होता है कि अच्छा लिखने वाले अच्छा बोल भी पायें। कुछ लोगों ने बहुत ही अच्छे भाषण दिये। इस सभा में ऐसे भी थे, जिन्होंने छाती पीट-पीट कर मुहर्रम का समाँ

बाँध दिया। ये सब 'परचा बेचने वाले' थे, जिन्हें यों ख़ाक-ख़ून में लथ-पथ देख कर मुझे शरत् चटर्जी के देवदास की याद आ गयी, जो अपने पिता की मृत्यु पर घर के कोने से लगा रस्मी क्रन्दन करने वालों को अपने दुनियादार भाई की ओर यह कह कर भेज देता है—"उधर!"

सभा में कुछ लोग 'इधर' वाले भी थे। इनमें से एक उठा—साँवले रंग का—दीवार के साथ आड़ी लगी स्लेट का-सा माथा; तुषारकन्ति घोष के-से बाल; आँखों पर हैरल्ड लाइड का-सा चश्मा; धोती-कुर्ते में, ऊपर मस्जिद नीचे ठाकुरद्वारा; थका-थका; मरने से बरसों पहले मरा हुआ...

"मैं कुछ कहना चाहता हूँ।" उसने अपनी डुड्डी उँगलियों को अँगूठे के साथ लगाते, हाथ सभापति महोदय की ओर बढ़ाते हुए कहा।

सभापति ने इजाज़त दी भी न थी कि वह मेज़ पर पहुँच कर एक कर्कश स्वर और भोंडे लहजे में शुरू भी हो गया। लगता था जैसे पंजाबी हथौड़े से हिन्दी और उर्दू के कूबड़ निकाल रहा है—अभी लन्दन के लिए रवाना हुआ, कलकत्ता पहुँच गया; फिर लोगों ने देखा—यह तो कोयम्बटूर में घूम रहा है; नहीं दिल्ली में है; तभी किसी काल्पनिक जेट पर बैठ कर मंज़िल पर पहुँच भी गया। भाषण क्या था, एक ऐसे आदमी की चाल थी, जो ग़म के मारे ज़्यादा पी गया हो। लेकिन उसे किसी की परवाह न थी। वह 'नाला पाबन्दे-नय नहीं है'[१] के-से अन्दाज़ में बोलता जा रहा था और लगता था, मेज़ की एक ओर खड़ा, वह सारे जगत का पिता है और इर्द-गिर्द के सब लोग उसके बच्चे-बाले हैं, जो खेल रहे हैं और उन्हें खेलने देना चाहिए...

इन सब बातों के बावजूद, उसके भाषण में एक असर था, क्योंकि वह सीधा उसके दिल से निकला था, जो व्याकरण के नियमों को नहीं माना करता। उसमें एक दर्द था और एक कुलबुलाहट थी, जो केवल तबाहों और तब्बाओं (प्रतिभा-शालियों) के हिस्से में आती है और जिसका तर्कहीन

---

**१. फ़रियाद की कोई लय नहीं है।**

**नाला पाबन्दे – नय नहीं है॥ —ग़ालिब**

तर्क 'परचा बेचने वालों' को चकित कर दिया करता है। वह उन पत्रों का उल्लेख कर रहा था, जो मुंशी जी ने अपनी ज़िन्दगी में उसे लिखे थे, जिनमें 'पथ-प्रदर्शन' या 'समस्याओं के समाधान' की अपेक्षा अपने सहधर्मी से भावनात्मक अपनापे का आभास मिलता था और जो पत्र शोक के उस क्षण में महज़ पत्रों से बढ़ कर अब एक साहित्यिक निधि हो गये थे।

यह अश्क था। इससे पहले मेरी अश्क से मुलाकात तक न हुई थी। मैंने उसको 'सुदर्शन' का मासिक पत्रिका 'चन्दन' में पढ़ा ज़रूर था, लेकिन देखा न था। यहाँ तक कि उसकी तस्वीर भी मेरी नज़र से न गुज़री थी। जो लोग अश्क को जानते हैं, वे कहेंगे कि यह हो ही नहीं सकता, अश्क तो लेखन और सम्पादन के साथ उसके प्रचार का भी क़ायल है और उस लिखने वाले को नम्बरी मूर्ख और घामड़ समझता है, जो सिर्फ़ लिखना ही जानता हो। बाद में मैंने भी देखा—अश्क—निहायत बेतकल्लुफ़ी से अपनी कोई उल्टी-सीधी तस्वीर किसी सम्पादक या प्रकाशक के गले मढ़ देता है, जो उस बेचारे को छापनी ही पड़ती है। और क्या तस्वीर होती है! सामना एक चौथाई, तीन चौथाई या प्रोफ़ाइल, जिसमें ज़ुल्फ़ें कन्धों पर बिखरी हुई हैं या अगर खूबसूरत शेव बनी है तो बालों को बड़ी सफ़ाई से कुण्डलों में ढाल रखा है। कुछ देर देखने के बाद विश्वास हो जाता है—मर्द है...अभी नंगा है, अभी ढाँपे हुए...एक मिनट, एक परचा, एक किताब....पहले सिर पर गांधी टोपी थी तो अब फ़ेल्ट हैट है, जो सिर पर जान-बूज कर टेढ़ी रखी है और बाँका लग रहा है। उस पर सितम यह है कि ख़ुद भी मुस्करा रहा है....या सिर पर क़राकुली है और आँखें अध-खुली—'तुर्के-ग़मज़ाज़न'[१] मालूम हो रहा है, जो उसके हज़ारों पाठकों की आँखों को खल रहा है, इस पर भी दिल में घर किये हुए है। 'हाफ़िज़' के शब्दों में दिल के एकान्त कक्ष में आराम कर रहा है और दुनिया को गुमान

---

१. **ऐ तुर्के ग़मजाज़न कि मुक़ाबिल नशिस्ताई।**
**दर दीदा अम-खलीदा-ो-दर दिल-नशिस्ताई।**

है कि महफ़िल में बैठा है[१]....मैं जो दाढ़ी को सिर्फ़ किसी दुश्मन के चेहरे पर देखना चाहता हूँ और इस डर के मारे आइना भी नहीं देखता, अश्क के चेहरे पर फ्रांसीसी ढंग की बकरोटी देख रहा हूँ....उसके बाद किसी तस्वीर में अश्क की शक्ल क्या होगी, यह किसी को मालूम नहीं, स्वयं अश्क को भी मालूम नहीं, क्योंकि पतले-छरहरे तन, तलवार की धार के-से मन, चाणक्य की-सी बुद्धि और दूर पहुँचने वाली निगाहों के बावजूद अश्क उसी क्षण का पूरा आदर करता है, जिसे वह उस वक्त जी रहा हो। वह महज़ इन्द्रियों ही से ज़िन्दगी का रस नहीं लेता, उसमें उसकी चेतना भी पूरे तौर पर शामिल रहती है। लगता है कि हाल और क़ील-ओ-क़ाल (वर्तमान और तत्सम्बन्धी तर्क-वितर्क) के सिलसिले में यदि कृष्णमूर्ति को किसी ने ग़लत पढ़ा है तो अश्क ने! हो सकता है किसी अगली तस्वीर में वह जोगिया बाना पहने हुए हो और एक हाथ से देखने वाले की ओर 'छू' भी कर रहा हो। बात यहीं पर खत्म नहीं हो जाती। वह तस्वीर ऐसे उपन्यास में छप भी सकती है जो सर-ता-सर फूल की पत्ती हो और जिससे हीरे का जिगर भी कट सके[२]—

जाने कोई आदिम मैत्री अथवा अविच्छिन सम्बन्ध होने वाला था कि अश्क से परिचित हुए बिना मुझे विश्वास हो गया कि यह शख्स अश्क के सिवा और कोई नहीं हो सकता। उस दौर के सब लिखने वालों में जो

---

१. **आराम करदाई ब-निहाँ-ख़ाना-ए-दिलम।**
**ख़लक़े बदीं गुमां कि ब-महफ़िल नशिस्ताई॥**
**ऐ तुर्के ग़मज़ाज़न (अदाओं वाले) तू मेरे सामने बैठा है।**
**मेरी आँखों में खुबा जा रहा है और दिल में घर किये हुए है॥**
**तू अन्तर्गुहा में आराम कर रहा और दुनिया को**
**गुमान है कि तू महफ़िल में बैठा है॥**

२. **फूल की पत्ती से कट सकता है, हीरे का जिगर।**
**मर्दे-नादाँ पर कलामे-नर्म-ो-नाज़ुक बे-असर॥**

**—इक़बाल**

आदमी मुंशी जी के क़रीब था और उनसे अलग था, वह केवल अश्क था। मुंशी जी ने अपनी ज़िन्दगी में दूसरों को भी खत लिखे होंगे, लेकिन जिन खतों का हवाला अश्क दे रहा था, वे एक सहधर्मिता की ओर संकेत कर रहे थे....

सभा समाप्त हुई। मैं उन दिनों डाकख़ाने में क्लर्क की हैसियत से काम कर रहा था, इसलिए जनता की शिकायतों से बहुत घबराता था। चुनांचे, अहिस्ता-आहिस्ता, डरते-डरते मैं अश्क के पास पहुँच गया। वह एक एडीटर साहब के साथ बहस में उलझा हुआ था। बहस की ख़ातिर बहस करना अश्क का आज तक का शेवा है। यह बात नहीं कि जो बात वह कहना चाहता है, उसमें वज़न या दलील नहीं होती। सब कुछ होता है और नहीं भी होता, लेकिन अश्क तो इसमें एक खास किस्म का मच्छन्दरी मज़ा लेता है और इस सम्बन्ध में तर्क-वितर्क और वाद-विवाद के सभी अस्त्र प्रयोग करता है। एक आदमी अच्छी-भली तर्कपूर्ण बातें कर रहा है, लेकिन अश्क उसे यह कह कर कि हम शायद दो भिन्न चीज़ों की बात कर रहे हैं, एक ऐसी सोच, ऐसी अचकचाहट में डाल देता है कि बहस करने वाले की रेल साफ़ पटरी पर से उतर जाती है और फिर आप जाते हैं कि एक बार रेल पटरी पर से उतर जाय तो क्या होता है। विरोधी तिल-मिलाकर रह जाता है और यदि वह चतुर हो और ग़लत बहस न होने दे तो अश्क आपको ठहाका मार कर हँसता उसे यह कहता हुआ मिलेगा—'तुम तो यार सीरियस हो गये'....अभी वह पूरे तौर पर समझ भी नहीं सका कि अश्क उसका हाथ थाम कर बड़े प्यार से कह रहा है—'असल में जो बात तुम कह रहे हो, वही मैं भी कह रहा हूँ....' इसके बाद और क्या हो सकता है, सिवा इस बात के, कि दूसरा आँखें झपकता रह जाय, अपने-आपको मूर्ख समझने लगे या फिर नाराज़ हो जाय कि मुझसे खाह-मखाह ज़बान की कसरत करायी गयी। परिणाम दोनों सूरतों में वही होता है। कोई नाराज़ हो जाय तो मैदान अश्क के हाथ में, न हो तो अश्क के हाथ में—चित भी अश्क की और पट भी अश्क की....जब मैं धीरे-धीरे अश्क के पास पहुँचा

तो बहस करने वाले एडीटर साहब का बिगुल बज चुका था। अब मेरी बारी थी। मैंने आगे बढ़ते हुए कहा—

"अश्क साहब—!"

एकदम घूम कर अश्क ने अपनी नज़रें मुझ पर गाड़ दीं और मेरे आर-पार देखने लगा। यदि किसी कैमरे में आम रोशनी की बजाय एक्स-रे का प्रकाश हो तो बड़े-से-बड़ा रोमानी दृश्य भी क्या होगा? यही ना कि खोपड़ी से खोपड़ी टकरा रही है, एक कंकाल की बाँह उठी और दूसरे कंकाल के गले में धँस गयी और मालूम हुआ कि अपर-सेक्स को आलिंगन के लिए नहीं, गला घोंटने के लिए अपनी ओर खींचा जा रहा है और फिर—गला भी कहाँ है?....मैंने कहा, "बड़ी मुद्दत से मेरी तमन्ना थी अश्क साहब...."

"आप....?" और फिर अगले ही क्षण वह कह रहा था, "तुम कहीं राजेन्द्रसिंह बेदी तो नहीं?"

एकाएक जैसे मुझे अपना नाम भूल गया। कम-से-कम यह ज़रूर लगा कि राजेन्द्रसिंह बेदी कोई दूसरा आदमी है, जिसे मैं जानता हूँ। तभी अपने-आप में आते हुए मैंने कहा—"हाँ अश्क साहब, मेरा ही नाम राजेन्द्रसिंह बेदी है!"

आदमी का अहं कहाँ तक पहुँचता है—दरअसल यह दुनिया कितना बड़ा जंगल है, कितना बड़ा मरु, जिसमें वह खोया-खोया फिरता है और हर दम यही चाहता है कि कोई उसे पहचान ले, कोई उसका नाम पुकार ले। और जब ऐसा हो जाय तो उसे कितनी बड़ी ख़ुशी होती है। एक बच्चा तो धीरे-धीरे अपना नाम सीखता है और अपने व्यक्तित्व को दूसरों से अलग करके देखने लगता है, लेकिन बड़ा होकर, अपने मजाज़ी[१] नाम को पा लेने के बाद, इस हक़ीकी[२] नाम के लिए वह कितनी दौड़-धूप करता है और पहचाने जाने के बाद वह उसे भगवान के नाम से अलग करके नहीं देख सकता। फिर उसमें विलीन हो जाने की आकांक्षा के बावजूद अपना एक अलग व्यक्तित्व भी रखना चाहता है—यदि मैंने अश्क को मिले बिना उसे पहचान

---

१. लौकिक।
२. अलौकिक, यथार्थ।

लिया तो उसने भी एक ही नज़र में मुझे जान लिया....फिर मैं एक छोटा-सा लेखक और इतना बड़ा साहित्यिक मुझे मेरे नाम से जानता है।....यही नहीं, उसने मेरी उन एक-दो कहानियों का भी उल्लेख किया, जो उन दिनों थोड़े-थोड़े समय के अंतर से लाहौर की पत्रिकाओं में छपी थीं....वह उनकी प्रशंसा भी कर रहा था—क्या यह सच है ?....इस विशाल मरु में मुझ-जैसे अक्षम, डाकखाने के एक बाबू के लिए भी जगह है ?....

जगह थी या नहीं, इस वक़्त भी है या नहीं, इससे बहस नहीं, अश्क जिसे पसन्द करता है, उसे स्वीकारता भी है और नाम-धाम की इस दुनिया में उसके लिए स्थान बनाने का सचेत प्रयास भी करता है। यह बात है जो मैंने अश्क में पर्याप्त मात्रा में पायी है। आज जबकि मैं अपने पीछे अपने साहित्यिक जीवन के तीस वर्ष देखता हूँ, तो ग्लानि से अपनी गर्दन झुका लेता हूँ - मैंने तो किसी नये लिखने वाले की मदद नहीं की। मैं भी अश्क की तरह उनकी प्रशंसा कर सकता था, आलोचना कर सकता था और उसके लिए रास्ते आसान कर सकता था। लेकिन मैं मैं हूँ और अश्क अश्क ! आज भी जब मैं कभी अश्क से मिलता हूँ और उसे किसी नये लिखने वाले का नाम लेते हुए पाता हूँ तो मुझे अचम्भा होता है, वह मुहब्बत, जो इन्सान चौबीस घण्टे अपने साथ करता है, नफ़रत में बदल जाती है और चूँकि आदमी हर हालत में अपने-आप से प्यार करना चाहता है, इसलिए अश्क से आदमी चिढ़ जाता है।....मेरी इस कमज़ोरी का क्या कारण है ? शायद मेरे लिए उसे समझाना मुश्किल हो और किसी के लिए समझना मुश्किल ! आसानी के लिए सिर्फ़ इतना कहूँगा....मुझ में शुरू ही से एक हीन-भाव-सा रहा है, बावजूद कोशिश के, दूसरों की प्रशंसा-स्तुति के, मैं उसे झटक नहीं नहीं सका। जैसे मुझे अपने-आप पर विश्वास नहीं....क्यों विश्वास नहीं ? इसे जानने के लिए किसी को मेरी ज़िन्दगी जीनी पड़ेगी और अश्क को क्यों विश्वास है, इसके लिए अश्क की ज़िन्दगी जीनी पड़ेगी।

अगले ही क्षण हम दो मित्रों की तरह बातें कर रहे थे, जैसे वर्षों से एक दूसरे को जानते हों....शायद गर्मियों का मौसम था और आसमान पर एक

ग़ुबार-सा छाया हुआ था— नीचे की धूल और गर्द थी जो कच्चे इलाक़ों से, बेशुमार घोड़ों की टापों या बे-लगाम हवा के साथ ऊपर चली गयी थी और अब कण-कण नीचे उतर रही थी। हम पैदल चल रहे थे। अश्क बातें कर रहा था और मैं सुन रहा था। वह बहुत बातें करना चाहता था। ऐसा क्यों था, इसका कारण मुझे बाद में मालूम हुआ। उस समय हमारी बातें एक नये-ब्याहे जोड़े की-सी बातें थीं, जो रात भर एक-दूसरे को कुछ कहते-सुनते रहते हैं और अगले दिन अपनी ही बातों का तात्पर्य न पा कर हैरान होते हैं। पैदल चलते बातें करते हुए, हम अनारकली के निकट पहुँच गये, जहाँ अश्क ने मुझे अपना घर दिखाया।

अश्क का घर अनारकली बाज़ार से ज़रा हट कर, पीछे की एक घनी, बसी गली में था, जिसमें प्रायः स्त्रियाँ आमने-सामने, अपने-अपने मकान से एक-दूसरी के साथ बातें करती सुनायी देती हैं, "भाबो !....आज तेरे घर क्या पका है ?" और वह उत्तर में कहती है—"आज कुछ नहीं पका, ये बाहर खाना खा रहे हैं न, तू दाल की एक कटोरी भेज देना।"....और कहीं आप अपने ध्यान में जा रहे हों तो ऊपर से कूड़ा गिरता है और आपकी तबियत तक साफ़ कर देता है। गली में इतनी भी जगह नहीं कि कोई उछल कर एक ओर हो जाय। फिर आमने-सामने की खिड़कियाँ....कोई लड़का खिड़की में खड़ा, सामने की खिड़की में झुकी हुई लड़की का हाथ पकड़ कर, उसकी हथेली खुजा देता है, जो लाहौर का एक आम दृश्य है और जिससे पता चलता है कि इश्क के मामले में लाहौर शहर से अच्छी जगह दुनिया भर में और कहीं नहीं !....और इसी गली में अश्क रहता था। यद्यपि 'अश्क' और 'इश्क' के उच्चारण में अंतर होता है, लेकिन लगता है, बात घूम-फिर कर वहीं पहुँचती है। कौन जाने कब इश्क अश्क में बदल जाय या इसके उलट हो जाय।....अश्क का घर 'दो-मंज़िला था, जिसकी ऊपर की मंज़िल में अश्क के दन्दानसाज़ भाई डाक्टर शर्मा बीवी-बच्चों के साथ रहते थे और नीचे अश्क और उसका पुस्तकालय—काम करने की जगह—जिस पर पहुँचने के लिए 'पतले के स्वर्ग' और 'मोटे के नरक' किस्म की सीढ़ियों पर से

हो कर जाना पड़ता था—एक रस्सा था, जो लोगों के हाथ लग-लग कर मैला हो चुका था और जिसे पकड़ कर न चढ़ने पर लुढ़क जाने का भय था....इसी तंग-अँधेरे मकान में अश्क रहता था। यहीं वह किसी चित्रकार की विशी-वाशी ( Wishy-Washy ) शैली में लिखता, काटता, फिर लिखता—पहली रेखाओं को मिटा कर दूसरी रेखाएँ बनाने लगता। लिखना उसकी आदत थी और इबादत भी, जो ज़िन्दगी से परे थी तो मौत से भी परे।

अश्क छोटी उम्र में ही अपनी रोज़ी कमाने लगा। उसके पिता स्टेशन मास्टर थे, जिन्हें शराब पीने और घर से बेपरवाह रहने की आदत थी। वे घर की ओर रुख़ भी करते तो डाँट-फटकार और मार-पीट के लिए—बीवी से लड़ रहे हैं, उस पर गरज रहे हैं, या कि बच्चे को उल्टा लटका कर उसे बेदर्दी से पीट रहे हैं। उन की शक्ल जाबिर थी और अक़्ल भी जाबिर। जो फ़ैसला हो गया, अटल है। उस निर्मम व्यक्तित्व वाले पुरुष के साथ गाय-जैसी प्रकृति वाली स्त्री का विवाह हो गया, जो अश्क की माँ थी। अपने पति के अत्याचारों ने जिसकी आकृति पर दुख की स्थायी रेखाएँ बना दी थीं। अश्क की रचनाओं में गृह-कलह के साथ-साथ माता-पिता के विरोधी चरित्र भी आते हैं। और उस ज़बरदस्त शख़्सीयत वाले बाप के कारण ही था कि एक दिन अश्क ने ज़िन्दगी में अपनी जगह पाने के लिए पिता की छत्र-छाया छोड़ दी। पुत्र ने चुनौती दी, पिता ने स्वीकार कर ली और दोनों जीत गये। क्योंकि ज़िन्दगी की विरोधी हवाओं और आँधियों से टक्कर लेने वाला, स्वयं क्षय-ऐसे राज-रोग में ग्रसित हो कर मौत का मुँह चिढ़ाता हुआ, बच कर निकल आने वाला, घोर विपन्नता और उस पर मित्रों और सम्बन्धियों की बेरुखी के बावजूद, साहित्यिक गुटबन्दियों और ईर्ष्या-द्वेष से पटे हुए शहर इलाहाबाद में लेखन-प्रकाशन के काम को सुदृढ़ता से चला ले जाने वाला एक ऐसे ही बाप का बेटा हो सकता था।

अश्क के माता-पिता छह बेटे इस संसार में लाये (लाये तो सात थे, पर एक शैशव ही में चल बसा था) और सब-के-सब नर। जालन्धर के मुर्दुम-

खेज़ ख़ित्ते (नर-रत्न-प्रसू भूमि) में जिनका पालन-पोषण हुआ था। जहाँ का हर आदमी शायर है या गायक; जहाँ हर बरस हरवल्लभ का मेला लगता है; जहाँ पूरे हिन्दुस्तान से शास्त्रीय संगीत के विशारद खिंचे चले आते हैं और गाते हुए डरते हैं, क्योंकि उस शहर का बच्चा-बच्चा 'विद्या-बान' है, जो सीधा कलेजे में लगता है। जानता है, कहाँ कोई सुर ग़लत लग गया। फिर वह लिहाज़ थोड़े ही करेगा ? जहाँ कहीं भी कोने में बैठा है, वहीं से पुकार उठेगा और वर्षों अपने अथवा अपने गुरु के सामने घुटने टेकने और संगीत सीखने की दावत देगा। सर्दियों की रात में अलाव के गिर्द बैठ कर वह बैतबाज़ी करेगा, जो सुबह तक चलेगी।....उस शहर का हर आदमी अपने-आपको प्रतिभाशाली समझता है और यदि उसकी प्रतिभा को स्वीकार न किया जाय तो एक हाथ है, जो सीधा न मानने वाले की पगड़ी की ओर आता है, फिर गालियों और मार-पीट तक नौबत आ सकती है....ये छहों भाई उस शहर की उपज थे और यह आश्चर्य की बात नहीं कि इनमें से हरेक अपनी जगह एक माना हुआ व्यक्ति था — ऐसे व्यक्तित्व का स्वामी, जिससे वही इनकार करे, जिसकी शामत आयी हो। मालूम होता है घूँसा भी दलील का एक हिस्सा है। यदि किसी कारण वह घूँसा न तान सके तो फिर यों ही शोर मचा रहा है। मकान से 'मर गया, मार दिया' की आवाज़ें आ रही हैं और लोग इस कान से सुन कर उस कान से निकाल देते हैं। एक दिन की बात हो तो कोई कुछ करे भी। हर रोज़ इस मकान से कोई-न-कोई गरज सुनायी देती है। छह-के-छह शेर। कोई बड़ा अपने वज़न से दूसरे को दबा ले, पीट डाले, लेकिन छोटा भी गरजने से बाज़ नहीं आ सकता। कुछ नहीं तो घायल हो कर ही चिल्ला रहा है, शोर मचा रहा है। शोर के बिना कोई बात हो ही नहीं सकती। चारों ओर एक हड़बोंग-सी मची है। दो इधर आ रहे हैं, तीन उधर जा रहे हैं। कछार से निकल रहे हैं, कछार में दाख़िल हो रहे हैं। ख़ून बह रहा है, मरहम-पट्टी हो रही है—इसलिए मारा जा रहा है कि मार क्यों खायी ? और फिर सब की गरज एक और पाटदार आवाज़, एक और

बड़ी गरज में दब जाती है—"चुप !"—यह पिता ज़ी की आवाज़ है—
एक शेर बब्बर की गरज, जिसे सुन कर पूरे जंगल में ख़ामोशी छा जाती
है। इस गिरि के बेले में कोई लोमड़ी नहीं, एक भी बहन नहीं (हुई, पर
बची नहीं)। गाय माँ काँपती रह जाती है, जबकि पिता सामने बोतल रख
कर बैठ जाते हैं। भूल करते हैं, लेकिन ब्राह्मण होने के नाते भूल बख्शवाना
भी जानते हैं। गा रहे हैं—'शामाजी मेरे अवगुन चित न धरो !'

अश्क के पिता को अपने ब्राह्मण होने पर नाज़ था। वे उस परशुराम
की सन्तान थे, जिसने हाथ में कुल्हाड़ा लेकर इक्कीस बार क्षत्रियों का नाश
किया था। क्षत्री, लड़ना और मारना-मरना जिनका पेशा था और जो
किसी के सामने न दबे, आज भी परशुराम की इस सन्तान से दबते हैं।
लगता है अश्क के पिता की शराबनोशी एक-दो बच्चों के बाद और भ
बढ़ गयी—अच्छे-भले सुरेन्द्रनाथ, उपेन्द्रनाथ के-से नाम रखते हुए वे सीधे
परशुराम तक पहुँच गये, जो इन छह भाइयों में तीसरा था।.... इसका
कारण यह था कि वे जालन्धर के उस मुहल्ले में रहते थे, जहाँ क्षत्रियों
(खत्रियों) के साथ ब्राह्मणों की हमेशा से ठनी रहती है। साल भर पहले
मुहल्ले के क्षत्रियों ने अश्क के पिता की अनुपस्थिति में उनके पागल चचा
को निर्दयता से पीटा था, जबकि अश्क की माँ और परदादी साँस रोके हुए
देखती रह गयी थीं। तभी से एक संकल्प था जो अश्क की प्रगट कमज़ोर
और गाय माँ के दिल में जाग उठा था और उस संकल्प के कारण ही
नवजात शिशु का नाम परशुराम रखा गया था। बचपन ही से उस बच्चे
से कहा गया—'अरे ! तू....परशुराम हो कर रोता है, जिसने क्षत्रियों के कुल
का नाश कर दिया और आँख तक न झपकी।'....और बच्चा रोते-रोते
चुप हो जाता....और सोचने लगता, बड़ा हो कर वह सब क्षत्रियों का नाश
कर देगा....चौथे बेटे का नाम अश्क के पिता ने इन्द्रजीत रखा—ब्राह्मण
रावण का सुपुत्र, देवताओं के राजा इन्द्र को ज़ेर करने वाला, क्षत्री लक्ष्मण
को शक्ति-बाण मार कर उसे मूर्छित करने वाला....अश्क के माता-पिता का
बस चलता तो वे पूरी रामायण नये सिरे से लिखते, जिसमें यह प्रमाणित

होता कि ब्राह्मण रावण नायक था और क्षत्री रामचन्द्र खल-नायक !

अश्क की माता के बारे में ज्योतिषियों ने कहा था कि वह 'सातपूती' है, अव्वल तो उसके बेटी हो नहीं सकती, होगी भी तो बचेगी नहीं, कन्या-दान का सुख उसके भाग्य में नहीं। चुनांचे यही हुआ। लड़के-ही-लड़के चले आये और ऐसी शिक्षा के सहारे एक-से-एक दबंग, एक-से-एक लड़ाका! दुनिया के इतिहास में पठानों की प्रतिशोध-प्रियता ख्यात है, क्योंकि वे अपनी जायदाद की तरह अपनी लड़ाइयों को भी उत्तराधिकार के रूप में अपनी सन्तान को दे जाते हैं। लेकिन अश्क के माता-पिता उनसे किसी तरह कम नहीं थे। आख़िर एक दिन आया कि उन भाइयों ने मुहल्ले के सारे क्षत्रियों को पीट-पीट कर अस्पताल भिजवा दिया। प्रकट है कि परशुराम इस युद्ध का नायक था। अकेले उसने शत्रुओं के परे-के-परे बिछा दिये। यद्यपि वह स्वयं भी घायल हुआ और कानूनी शिकंजे में भी फँस गया, लेकिन सबको प्रसन्नता इस बात की थी कि पागल दादा की आत्मा कहीं ऊपर आकाश में यह सब देख कर प्रसन्न हो रही होगी।

सो ये थे अश्क के नाटक 'छठा बेटा' और उसके वृहद उपन्यास 'गिरती दीवारें के प्रमुख पात्र। अश्क इन भाइयों में दूसरा है....फिर घर में भाभियों का आगमन शुरू हुआ। शेरों के पास बकरियाँ बँधने लगीं। अब आप ही बताइए, वे क्या खातीं, क्या पीतीं ? उस आपसी मार-धाड़, घर भर के हंगामे में वे खा-पी भी लेतीं तो क्या तन को लगता ? अनारकली वाले मकान से पहले अश्क अपने बड़े भाई के साथ चंगड़ मुहल्ले के अत्यन्त सील-भरे, तंग और अँधेरे कमरे में रहता था, जिसमें ताज़ी हवा के बदले वे एक-दूसरे की साँसों पर जीते। इस 'हैरताबाद' में औरतों ने बहुत किया तो रो लिया नहीं तो :

**घुट के मर जाऊँ, यह मर्ज़ी मेरे सैयाद की है**

अश्क की बीवी—शीला—जब ब्याही आयी तो गेहुएँ रंग की एक गोल-मटोल लड़की थी, जो बात-बात पर हँसती थी। इस घर के वातावरण में उसका दम घुटने लगा। इस पर भी वह अपनी पहली फ़ुर्सत में खिलखिला

उठती। लगता था, कोई बात भी उसकी हँसी को नहीं दबा सकती। मैं शीला से मिला तो नहीं, पर अश्क के लाहौर वाले कमरे में और बाद में इलाहाबाद में अश्क के बड़े लड़के उमेश के कमरे में शीला की तस्वीर ज़रूर देखी है, जिसमें वह हँस रही है। मौत भी उसकी हँसी को नहीं दबा सकी....अश्क उन दिनों बहुत व्यस्त रहता था। वह अपनी रचनाओं को टोह-टोह कर देख रहा था, उन्हें बाज़ार ले जा रहा था, यह देखने के लिए कि बिकती हैं कि नहीं। कुछ बिक सकीं और कुछ नहीं। कुछ पैसे वसूल हुए, कुछ नहीं हुए; लेकिन उन्हीं रचनाओं के बल पर उसे उर्दू दैनिक 'भीष्म' और फिर 'बन्दे मातरम्' में सहायक सम्पादक की जगह मिल गयी। अवकाश के क्षणों में वह घोस्ट राइटिंग[1] (Ghost Writing) किया करता—अश्क के लिखे हुए हिदायतनामे लाखों की संख्या में बिके, लेकिन चन्द टिकलियों के सिवा उसके हाथ में कुछ नहीं आया। फिर एक और दुर्घटना हुई। अश्क के ससुर पागल हो गये, उसकी सास लाहौर आकर एक सेठ के यहाँ चौका-बर्तन पर नौकरी करने लगी। दामाद के घर का तो वह पानी भी न पी सकती थी और अपने पति के निकट रहना चाहती थी। इससे अश्क और शीला की भावनाएँ घायल हो गयीं। अश्क ने निश्चय किया कि वह सामाजिक रूप से शीला को ऐसा पद और प्रतिष्ठा देगा, जिससे उसके दिल से हीन-भाव मिट जाय। उसने सबजजी के कम्पीटिशन में बैठने की ठानी।

अब वह वकालत पढ़ने लगा। दिन को साहित्यिक काम, कॉलेज की पढ़ाई, ट्यूशन और रात को अध्ययन-मनन। कोठे-कोठे जितनी-बड़ी पुस्तकें लेकिन जिस मिट्टी से अश्क का खमीर उठाया गया था, जिस हड्डी से उसकी रीढ़ बनी थी, वह किसी भी परिश्रम से लोहा ले सकती थी। इसी बीच शीला ने उमेश—अश्क के सब से बड़े पुत्र को जन्म दिया। घर के वातावरण और खुराक की कमी के कारण वह बीमार हो गयी और अभी अश्क ने एफ़० ई० एल० की परीक्षा भी न दी थी कि डाक्टरों ने यक्ष्मा का सन्देह

---

**१. दूसरे के नाम से लिखना।**

प्रकट कर दिया। अश्क ने हार नहीं मानी। एफ़० ई० एल० उसने फ़र्स्ट डिवीजन में पास किया। एल-एल० बी० में वह उसे लाहौर ले आया और वहाँ शहर से आठ मील दूर गुलाब देवी अस्पताल में उसे भरती करा दिया। अब वह एक ओर साहित्य-सृजन करता, दूसरी ओर कानून की पढ़ाई करता और तीसरी ओर हफ़्ते में दो-तीन बार मॉडल टाउन से भी परे अस्पताल में शीला से मिलने जाता। उसे वास्तव में विश्वास नहीं था कि नियति उस ठठोल को इस नीचता को सीमा तक ले जायगी। वह समझता था, शीला अच्छी हो जायगी, लेकिन इधर इतने श्रम, इतनी तपस्या से अश्क ने डिस्टिंक्शन से कानून की परीक्षा पास की, उधर शीला चल बसी। विधाता ने एक हाथ से दिया, दूसरे से सभी कुछ छीन लिया। अब ज़िन्दगी में कोई कायदा, कोई कानून न रहा। अश्क ने सबजजी का विचार छोड़ दिया। जिसके लिए वह जज बनना चाहता था, वह तो जा चुकी थी... उसने अत्यधिक दुख, अत्यधिक शोक, बेपनाह थकावट के आलम में अपनी कलम उठायी और साहित्य-सृजन में रत हो गया। क्योंकि यह साहित्य-सृजन ही था, जिसमें अपने-आपको ग़र्क़ कर देने से, वह अपने जीवन की उस महान दुर्घटना को किसी हद तक भूल सकता था....घर के झगड़े, परिस्थितियों की विकटता, समाज का ज़ुल्म ही था, जिसे अश्क ने अपने साहित्य की विषय-वस्तु बनाया—इस ज़माने में वह अपना उपन्यास 'गिरती दीवारें' लिखना शुरू कर चुका था, जिसे अश्क की अर्ध-जीवनी भी कहा जा सकता है और जो उसका सब से बड़ा कारनामा है। इसके साथ ही छोटी-छोटी कहानियाँ—कोंपल, गोखरू, संगदिल ( पाषाण ), नन्हा, पिंजरा आदि भी उसने उन्हीं दिनों लिखीं, जिन पर उसकी असीम उदासी की स्पष्ट छाप है।

शायद अश्क मेरी इस बात की साक्षी दे कि उसने प्रेम केवल एक स्त्री से किया और वह शीला से। क्योंकि उस ज़माने में अपनी सारी चेतना के बावजूद, वह नहीं जानता था कि प्रेम होता क्या है। और न शीला ही जानती थी। वे दोनों जी रहे थे। कभी अपने लिए, कभी एक-दूसरे के

लिए। और यह ऐसा प्रेम था, जिसकी हर अदा में अनायासता थी, जो किसी नाम का मोहताज था, न गुण का।....इसके बाद भी अश्क ने मुहब्बत की, लेकिन जुनून उसमें से ग़ायब हो चुका था। उसमें एक परिपक्वता आ चुकी थी, जिसकी वजह से वह अपनी दूसरी शादी के एक महीने बाद ही माया—अपनी दूसरी बीवी को छोड़ सका और कौशल्या—अपनी वर्तमान पत्नी से कह सका—जानेमन ! मैं ज़िन्दगी का सफ़र करते-करते थक गया हूँ। मुझ में जवानी की वह लपक नहीं रही। यदि तुम उसकी आशा रखत हो तो व्यर्थ है। मैं उस प्रेम के योग्य नहीं जो ज्वाला-सा लपकता है, वह प्यार मैं तुम्हें दे सकता हूँ, जो धीमी आँच पर पकता है और इसीलिए स्वादिष्ट होता है।

तो यों मुझे अपने घर ला कर अश्क ने मेरे साथ सैकड़ों ही बातें कर डालीं। अपना खाया, पिया—सब मेरे सामने उगल दिया। अनुभवी आदमी प्रायः अपना सब कुछ यों नहीं कह डालते और फिर वह भी उस आदमी से, जो उनसे पहली बार मिला हो। लेकिन अश्क मुझ से बहुत कुछ कहना चाहता था। यह तो अच्छा हुआ, मैं मिल गया, नहीं तो वह दीवारों से बातें करता, सड़क पर खड़े किसी बिजली के खम्भे से अपने दिल की दास्तान दोहरा देता....तब तक रात आधी से अधिक जा चुकी थी। ग़ुबार दब चुका था, इस पर भी आसमान कुछ साफ़ न था। कहीं-कहीं कोई सितारा आत्म-प्रदर्शन की धुन में धुन्ध, धुएँ और धूल के आवरण को चीरता-फाड़ता, अपना टिमटिमाता हुआ रूप दिखाने लगता। अश्क की बातें सुनते वक्त मैं कई बार हँसा, कई बार मेरी आँखों में आँसू भर आये।....अब मेरा मन ऊबने लगा था। कुछ इस बात का खयाल भी था कि सतवन्त—मेरी पत्नी—घर में प्रतीक्षा कर रही होगी। जब तक पुरुष के सैलानी होने का विश्वास न हो जाय, हर स्त्री अपने पति के पीछे घोड़े दौड़ा देती है। उनमें से कुछ गधे निकल आते हैं, जिनमें से एक मेरा सम्बन्धी था, जो मुझे ढूँढ़ने के लिए भेजा गया था। अश्क मुझे कुछ दूर तक छोड़ने के लिए

मकान के नीचे उतरा। वह दूर न जा सकता था, क्योंकि घर में जाते ही उसने धोती-कुर्ते को बनियान और तहबन्द से बदल लिया था। लेकिन फिर बातों के नये शोशे छोड़ते हुए हम अनारकली के बड़े बाजार से निकल-कर बाइबल सोसाइटी के सामने चले आये और फिर वहाँ से होते हुए नाल रोड पर....मेरे घर की तरफ़....गोलबाग़ पहुँच कर, जहाँ मेरा वह सम्बन्धी, जैसा कि बाद में पता चला :

**चिट्ठिए दर्द फ़िराक वालिए**
**लैजा लैजा सुनेहड़ा सोहने यार दा**

गाता हुआ पास से गुज़र गया और हम बेफ़िक्री के आलम में एक बेंच पर बैठ गये....आहिस्ता-आहिस्ता मुझ में अपनी पत्नी से कारण एक घबराहट सी पैदा हो रही थी। मैंने उठने की कोशिश की, लेकिन अश्क कविता सुना रहा था।

**चल दोगी कुटिया सूनी कर**
**इसो घड़ी इस याम**
**युग-युग तक जलते रहने का**
**मुझे सौंप कर काम**

और मैं उसकी प्रशंसा कर रहा था। मुझे कविता ज़रूर अच्छी लग रही थी, पर घर का ख़याल भी सता रहा था। अब हालत यह थी कि मैं तो कम्बल को छोड़ना चाहता था, पर कम्बल मुझे नहीं छोड़ रहा था। आखिर मैंने जी कड़ा किया, लेकिन जो शब्द मेरे मुँह से निकले, उसकी हैसियत क्षमा-याचना से अधिक कुछ न थी। मैं उठा तो अश्क भी मेरे साथ उठ गया....बातें करता हुआ....वह मेरे घर के सामने खड़ा था।

बच्चे ने दरवाज़ा खोला और मैं जल्दी-जल्दी अन्दर गया। बैठक खोल कर बत्ती जलायी और अश्क को अन्दर बैठाया। इतनी गर्मी के बावजूद सतवन्त—मेरी बीवी—नीचे मेरी प्रतिक्षा कर रही थी। वह एक आम क्लर्क की बीवी थी, जो दफ़्तर से छुट्टी के आधे घण्टे के अन्दर-अन्दर

पति को अपने घुटने के पास बैठा हुआ देखना चाहती है और अब तो रात आधी से ज़्यादा गुज़र चुकी थी और 'बुरे-बुरे ख़याल मेरे मन में आ रहे थे ।'....

"कहाँ रहे इतनी रात तक ?" उसने मुझसे पूछा ।

"जहन्नुम में ।" मैंने कहा, "तुम ज़रा मेरे साथ बैठक में आओ । एक बहुत बड़ा साहित्यिक मुझ से मिलने आया ।"

"हाँ मगर—इस वक्त ?"

"हाँ....तुम आओ तो ।"

और मैं सतवन्त का हाथ पकड़ उसे बैठक की ओर ले चला । उस वक्त तक सतवन्त साहित्यिकों को आदर के योग्य कोई चीज़ समझती थी । जल्दी-जल्दी एक-दो घूँट में उसने अपना गुस्सा पी लिया और अपने चेहरे की 'जैसे कुछ हुआ ही नहीं' के नख-शिख से सँवारते हुए मेरे पीछे बैठक में चली आयी और एक काले-कलूटे आदमी को, उस वेष में देख कर डर गयी । अश्क उस समय भाटी दरवाज़े का कोई ऐसा गुण्डा लग रहा था, जिससे लाहौर की सब स्त्रियाँ डरती थीं और जिसे सामने से आते देख कर सड़क छोड़ कर एक ओर खड़ी हो जाती थीं । मुझे सतवन्त का यह अन्दाज़ अच्छा न लगा । मैं कर ही क्या सकता था । मैंने पहले अश्क की ओर हाथ बढ़ाया—"उपेन्द्रनाथ अश्क ।" और फिर पत्नी की ओर—"सतवन्त मेरी पत्नी ।"

छूटते ही अश्क ने मेरी पत्नी का नाम पुकारा—"सतवन्त, बुरा मत मानना, मैं ऐसे ही चला आया हूँ ।" और उसने अपनी बनियान और तहबन्द की ओर संकेत किया, "बात यह है मैं ज़रा मलंग आदमी हूँ ।...."

और फिर ज़ोर से मेरे हाथ पर हाथ मारते हुए वह हँसा ।—एक ऐसी हँसी, जिससे फेफड़े फट जायें । एक चिड़िया, जिसने ऊपर कार्निस के पास घोंसला बना रखा था, फड़फड़ा उठी । सामने के घर की बत्ती जली और किसी ने बालकनी पर से झाँका....इससे पहले कि मेरी पत्नी कुछ कहती, अश्क उससे कह रहा था—"सतवन्त !....बहुत भूख लगी है ।"....

●